उसका करण है, अर्थवादों की लक्ष्यार्थभूत प्रशंसा इतिकर्तव्यता है। जैसे पिछली आर्थी भावना में 'किं भावयेत्, केन भावयेत्, 'कथं भावयेत्' इस प्रकार त्रिविध आकाङ्क्षाएँ होती हैं, उनकी पूर्त्ति भी 'स्वर्गं भावयेत्, यागेन भावयेत् प्रयाजादिभिरङ्गैरुपकृत्य भावयेत्' इस तरह होती है, उसी तरह शाब्दी भावना में भी 'किं भावयेत्, केन भावयेत्, कथं भावयेत्' यह साध्याकाङ्क्षा, साधनाकाङ्क्षा तथा इतिकर्तव्यताकाङ्क्षा होती है और उनकी पूर्ति भी इस तरह होती है 'पुरुषप्रवृत्तिरूपामंशत्रयवतीमार्थीभावनां भावयेत्, लिङादिज्ञानेन भावयेत्, अर्थवादैः प्राशस्त्यमवबोध्य भावयेत्।' यही बात भट्टपाद ने भावार्थाधिकरण में कही है :—

"अभिधा भावनामाहुरन्यामेव लिङादयः।
अर्थार्थभावना त्वन्या सर्वाख्यातेषु गम्यते ॥"

अर्थात् लिङादि विधिरूप आख्यात का अर्थ अभिधा भावना है, यह लिङादिरूप आख्यात का ही अर्थ है। आर्थी भावना सभी आख्यातों का साधारण अर्थ है। लिङादि विधि आख्यात भी है, किन्तु उसमें आख्यातांश का अर्थ आर्थी भावना है, लिङंश का अर्थ शाब्दी या अभिधाभावना है। 'पथ्यमश्नीयात्' इत्यादि लौकिक विधिवाक्यों में भी आख्यातार्थ, लिङर्थ दोनों ही भावनाएँ होती हैं। पुरुषप्रवृत्तिरूपा भावना आख्यातार्थ है, पुरुषप्रवृत्ति के प्रयोजक प्रवर्तयिता की भावना लिङर्थ है। वेद अपौरुषेय है, अतः वहाँ प्रवर्तयिता कोई पुरुष नहीं है। अतः लोक में यद्यपि लिङर्थ भी प्रयोजक पुरुष की ही भावना है, किन्तु वेद में शब्द ही प्रवर्तक है, अतः अंशत्रयवती आर्थी भावना की प्रवर्त्तिका शाब्दी भावना कही जाती है। लिङ् के श्रवण से श्रोता समझता है कि यह मुझे प्रवृत्त कर रहा है। लोक में पिता आदि पुत्रादि के प्रवर्तक होते हैं, वैदिक व्यवहार में वेद ही प्रवर्तक समझा

जाता है। इसीलिए वैदिक विधिवाक्यों में आख्यातांश का अर्थ पौरुषेयी या आर्थी भावना होता है तथा लिङंश का अर्थ शाब्दी-भावना होता है।

यहाँ यह आक्षेप होता है कि 'लिङादि विधिरूप आख्यातों में आर्थी भावना से अन्य कोई भावना सिद्ध नहीं होती, जो कि शाब्दी भावना कही जा सके। लिङादि शब्दों के श्रवणानन्तर जो यज्ञ, पाकादि क्रियाओं में श्रोता पुरुषों की प्रवृत्ति होती है, उसके हेतुभूत पदार्थ को ही शब्द-भावना कहा जाता है। परन्तु वह कोई पदार्थ सिद्ध नहीं होता।

'कई लोग लिङादिरूप आख्यात से ही पुरुषों की प्रवृत्ति मानते हैं। कई लिङादि शब्दों की विलक्षण क्रिया को ही प्रवृत्ति-हेतु मानते हैं। कोई लिङादि आख्यातों की शक्ति को ही प्रवर्त्ति-का मानते हैं। कोई आज्ञा को तो कोई नियोग (अलौकिक व्यापार) को प्रवर्तक मानते हैं। कोई इच्छा को, कोई फलनिष्ठ प्रीति को, कोई साधनता को, कोई फलनिष्ठ साध्यता को, कोई कृतिसाध्यता को, कोई इष्टसाधनता को, कोई कृतिसाध्यता, इष्टसाधनता दोनों ही को, कोई इष्टसाधनता, कृतिसाध्यता और बलवदनिष्टा-ननुबन्धिता (इष्ट की अपेक्षा बलवान् अनिष्ट का साधन न होना) तीनों को प्रवर्तक मानते हैं। कोई प्रवर्तना रूप से लिङादि वाच्य इष्ट साधनता को ही प्रवर्तक मानते हैं। कोई आप्तों के अभिप्राय को प्रवर्तक मानते हैं।'

किन्तु लिङादि आख्यात ही पुरुष का प्रवर्तक है, यह प्रथम पक्ष सम्भव नहीं, क्योंकि जैसे वायु साक्षात् तृणादि में व्यापार उत्पन्न करता है, वैसे लिङादि शब्दस्वरूप से पुरुष में प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं करते। क्योंकि शब्द अपने अर्थबोधन द्वारा ही प्रमाण कहलाता है। लिङादि शब्द यदि अपने अर्थबोध के बिना वायु की

तरह प्रवृत्ति करायेंगे, तो वे प्रमाण नहीं हो सकेंगे। इसके अतिरिक्त घटादि शब्द तभी अपने अर्थों का बोध कराते हैं, जब उनका पूर्व से ही अपने अर्थ के साथ श्रोता को सम्बन्धज्ञान रहता है। इसी तरह लिङादि भी सम्बन्ध (शक्ति) - ज्ञानपूर्वक ही श्रोता को स्वार्थ का बोध करायेंगे। परन्तु यदि लिङादि वायु के समान प्रवर्तक हों, तो उन्हें सम्बन्धज्ञान की आवश्यकता ही क्यों होगी ?

साथ ही 'यजेत्' आदि क्रिया गत 'एत्' रूप आख्यात बिना 'यजि' के स्वार्थबोध नहीं कराते। किन्तु यदि लिङादि वायु के समान प्रवर्तक हैं, तो वे यजि आदि की अपेक्षा क्यों रखेंगे ? यदि लिङादि शब्द वायुवत् प्रवृत्ति कराते हैं, तब तो फलानुसन्धान के बिना भी तृणादिवत् पुरुषों की प्रवृत्ति होनी चाहिए। जिस विधिवाक्य में फल श्रुत नहीं होता, उसमें भी लिङादि बल से फल की कल्पना की जाती है। जैसे 'विश्वजिता यजेत' इस विधि में फलश्रुत नहीं है, तो भी स्वर्ग की कल्पना की जाती है। 'स हि स्वर्गः सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्' अर्थात् विश्वजित् याग से साध्य फल स्वर्ग ही है, क्योंकि वह सबके प्रति समान रूप से अभीष्ट होता है। यदि लिङादि शब्द वायु के समान प्रवर्तक हों, तब तो फलानुसन्धान के बिना ही उनसे प्रवृत्ति हो हो जाती। फिर स्वर्गादि की कल्पना क्यों की जाय ? यदि कहा जाय कि लिङादि शब्द ऐसे व्यापार का बोध कराते हैं, जिससे यज्ञादि कर्मों में पुरुषों की प्रवृत्ति होती है। अर्थात् यज्ञादि कर्मों में एक ऐसी शक्ति होती है, जिसके कारण उनमें पुरुषों की प्रवृत्ति होती है। वही शक्ति लिङादि का अर्थ है। उसी शक्ति का बोध लिङादि कराते हैं। परन्तु यह ठीक नहीं; क्योंकि 'कारीर्य्या वृष्टिकामो यजेत' (वृष्टि की कामना से कारीरी नामक यज्ञ करे)

इत्यादि वैदिक विधियों में लिङादि शब्द व्यर्थ हो जायँगे, क्योंकि जलवृष्टि आदि प्रत्यक्ष पदार्थ हैं, उनके सिद्ध करने की शक्ति भी 'कारीरी' आदि यज्ञों में आपके अनुसार लोकसिद्ध ही है। तथाच 'कारीरी' आदि वैदिक विधियों में लिङादि शब्द व्यर्थ हो जायँगे। जैसे भोजन से तृप्ति लोकसिद्ध है, वैसे ही कारारी में वृष्टि सिद्ध करने की शक्ति लोकसिद्ध है। अतः वह शक्ति वैदिक लिङादि शब्दों का अर्थ नहीं हो सकती। क्योंकि वैदिक लिङादि शब्दों से उसी अर्थ का बोध होता है, जो कि प्रमाणा-नन्तर से प्राप्त नहीं होता। तभी वैदिक वाक्य सार्थक होते हैं। अन्यथा 'तृप्तिकामो भुञ्जीत' इत्यादि वाक्यों के तुल्य 'कारीरी' वाक्य भी व्यर्थ ही होगा।

इसी तरह कोई विलक्षण क्रिया ही लिङादि का अर्थ है, यह दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि अलौकिक-प्रेरणारूपा क्रिया में लिङादि का शक्ति-ग्रह ही सम्भव न होगा। फिर वह प्रवर्तक कैसे होगी? घटादि शब्द का लोकप्रसिद्ध घटादि पदार्थ में ही शक्तिग्रह होता है। फिर जिस अलौकिक प्रेरणा को लोग जानते ही नहीं, उससे लिङादि का शक्तिग्रह तथा उसके द्वारा पुरुषों की प्रवृत्ति सर्वथा ही असम्भव है। यदि किसी तरह अलौकिक प्रेरणा के साथ लिङादि का सम्बन्धज्ञान हो भी जाय, तो भी उससे पुरुषप्रवृत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि लोक में राजा आदि की प्रेरणा से उन्हीं लोगों की प्रवृत्ति होती है, जो यह जानते हैं कि राजा स्वतन्त्र रूप से फल दे सकता है। परन्तु लिङादि शब्द तो स्वतन्त्र रूप से फल दे नहीं सकते, फिर उनकी प्रेरणा से पुरुषप्रवृत्ति कैसे हो सकेगी? फिर यह भी प्रश्न होगा कि पुरुषप्रवृत्ति मानने में लिङादि शब्द प्रधान हैं या प्रेरणा? पहला पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि लिङादि शब्दों से किसी फल की

कल्पना नहीं की जा सकती है, कारण वे किसी पुरुषार्थ को साक्षात् सिद्ध नहीं करते हैं। प्रेरणा प्रधान है, यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि प्रेरणामात्र के ज्ञान से किसी विवेकी पुरुष की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। कारण सभी प्रेरणाएँ उचित नहीं होतीं। अतः यह कहना पड़ेगा कि वेद स्वतःप्रमाण है। अतएव वैदिक लिङादि की प्रेरणा के ज्ञान से पुरुषों की प्रवृत्ति होती है। अतः वैदिक लिङादि शब्दों की प्रेरणा ही प्रवृत्ति का कारण हो सकती है, केवल प्रेरणा नहीं। ऐसी स्थिति में वैदिक लिङादि शब्द भी प्रवृत्ति के कारण में अन्तर्भूत हुए। अर्थात् लिङादि शब्दविशिष्ट प्रवृत्तिकारण लिङादि का अर्थ है, यह कहना पड़ेगा, जो कि सर्वथा विरुद्ध है।

अभिधा (लिङादि की शक्ति) लिङादि का अर्थ है, यह तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि 'अभिधा' शब्द की उसी शक्ति को कहते हैं, जिससे अर्थबोध होता है। यह शक्ति लोक में प्रसिद्ध ही होती है। लिङादि भी शब्द ही हैं अतः उनमें शक्ति है ही। उसकी कल्पना अनावश्यक ही है। वही शक्ति प्रवृत्तिरूप आर्थी भावना का बोध कराकर पुरुषप्रवृत्ति उत्पन्न करेगी, अतः उसीको प्रवर्तना कहा जाता है। लिङादि शब्द का अर्थ भी वही है। परन्तु इस पक्ष में दोष यह है कि प्रवृत्तिरूप आर्थी भावना का बोध तो लिङादिभिन्न अन्य आख्यातों से भी होता है, फिर तो उन आख्यातों से भी प्रवृत्ति होनी चाहिए। परन्तु ऐसा होता नहीं। 'पचति' 'पक्ष्यति' आदि आख्यातों से किसी पुरुष की प्रवृत्ति नहीं होती। यदि कहा जाय कि लिङादि के अर्थ में कोई ऐसा विशेष है, अतएव लिङादि से प्रवृत्ति होती है। वह विशेष अन्य आख्यातों में नहीं होता, अतः उनसे प्रवृत्ति नहीं

होती। तब तो उसी विशेष की प्रवर्तना और लिङादि का अर्थ मानना चाहिए अभिधा को नहीं।

यदि कहा जाय कि अभिधा का यह स्वभाव है कि वह अन्य आख्यातों से उक्त होकर प्रवृत्ति नहीं कराती, पर लिङादि से अभिहित अभिधा प्रवृत्ति कराती है। यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस तरह तो अभिधा को लिङर्थ मानना व्यर्थ ही है। कारण लिङादि शब्दों की अभिधा प्रवृत्ति कराती है, यह प्रसिद्ध ही है। फिर भी यदि अभिधा लिङ का अर्थ माना जाय, तब तो फिर अन्य आख्यातों से भी पुरुषप्रवृत्ति होनी चाहिए। यदि कहा जाय कि दूसरे आख्यात अभिधा को प्रवृत्ति के कारणरूप से नहीं बतलाते, क्योंकि अभिधा उनका अर्थ नहीं है। लिङादि शब्दों का तो अभिधा अर्थ है, इसी से लिङादि अभिधा को प्रवृत्ति का कारण बतलाते हैं, इसीसे प्रवृत्ति होती है। इसीलिए अभिधा को लिङादि का अर्थ कहा जाता है। परन्तु यह भी ठीक नहीं है, कारण यहाँ यह प्रश्न होगा कि अभिधा प्रवृत्ति का कारण है, ऐसा बतलाने के पूर्व अभिधा में प्रवृत्ति कराने की शक्ति है या नहीं? यदि है, तो ऐसा बतलाने का प्रयोजन ही क्या है, शक्ति से ही प्रवृत्ति हो ज़ायगी। अतः अभिधा को लिङर्थ मानना व्यर्थ है। यदि अभिधा प्रवृत्ति का कारण है, यह बतलाने के पूर्व लिङादि शब्दों में प्रवृत्ति कराने की शक्ति नहीं है, तब तो बतलाने के अनन्तर भी उससे प्रवृत्ति की उत्पत्ति संभव नहीं है। फिर प्रवृत्ति कैसे होगी।

आज्ञादि लिङर्थ है, यह चौथा पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि छोटों के प्रति बड़ों की प्रेरणा ही आज्ञा या प्रेषणा कहलाती है। बड़ों के प्रति छोटों की प्रेरणा प्रार्थना या अध्येषणा कही जाती है। समान पुरुषों को अपने समान पुरुषों के प्रति प्रेरणा को अनुमति या अनुज्ञा कहा जाता है—ये तीनों ज्ञानविशेष होने से

चेतन के ही धर्म हैं। वेद अपौरुषेय हैं। उनके लिङादि भी अचेतन ही हैं। अतः वैदिक लिङादि का आज्ञा, प्रार्थना, अनुज्ञा, कोई भी अर्थ नहीं हो सकता।

नियोग लिङादि का अर्थ है। यह पाँचवाँ पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिस कार्यरूप वस्तु को मीमांसक नियोग कहते हैं, वह अत्यन्त अप्रसिद्ध है तथा किसी प्रमाण का गोचर नहीं है। फिर ऐसी वस्तु में वैदिक लिङादि शब्दों का शक्ति (सम्बन्ध)-ग्रह ही असम्भव है, फिर ऐसी वस्तु से प्रवृत्ति कैसे संभव होगी?

यहाँ यह कहा जा सकता है कि नियोगरूपी कार्य में लोक-प्रसिद्ध तथा दृढ़ प्रमाण यह है कि जब बालक के सामने प्रयोज्य वृद्ध प्रयोजकवृद्ध के गामानय (गो लाओ) इस वाक्य को सुनकर गाय लाता है, तब प्रयोज्य एवं प्रयोजक पुरुषों के इन व्यवहारों को देखकर बालक यह अनुमान करता है कि जैसे मेरी स्तनपानरूप चेष्टा मेरी आन्तरिक प्रवृत्ति से होती है, वैसे ही नियोज्य पुरुष की गौ ले आने की चेष्टा भी उसकी आन्तरिक चेष्टा से ही हुई है। बालक दूसरा अनुमान यह भी करता है कि जैसे मुझे स्तनपान करना चाहिए, इस प्रकार के ज्ञान से मेरी स्तनपान में प्रवृत्ति होती है, वैसे ही मुझे गौ लाना चाहिये—इस प्रकार के ज्ञान से ही नियोज्य पुरुष की गौ ले आने में प्रवृत्ति हुई है। इसी ज्ञान को कार्यता-ज्ञान कहा जाता है। पुनश्च बालक तीसरा अनुमान यह करता है कि जैसे मेरी तृप्ति का स्तनपान कारण है, वैसे ही मुझे गौ ले आना चाहिए, इस प्रयोज्य वृद्धनिष्ठ कार्यताज्ञान का कोई विशेष कारण अवश्य है। फिर बालक सोचता है कि नियोज्य पुरुष के उक्त कार्यताज्ञान का कारण क्या है। यहाँ कोई अन्य कारण उपलब्ध नहीं है। प्रयोजक वृद्ध का 'गामानय' (गौ ले आओ) यह वाक्य ही उपस्थित है, अतः नियोज्य के

कार्यताज्ञान (मुझे गौ ले आना चाहिए) का कारण उस वाक्य को ही बालक समझता है। अनन्तर 'गां बधान' (गाय को बाँधो), अश्वमानय (घोड़ा को लाओ) इत्यादि प्रयोजक वाक्यों को सुनकर प्रयोज्य पुरुष के कामों को देखकर बालक समझ लेता है कि गाम्-अश्वम् , ये शब्द गौ एवं घोड़े के बोधक हैं, आनय एवं बधान ये शब्द ले आना और बाँधना आदि क्रियाओंके बोधक हैं।

पूर्वमीमांसा के षष्ठाध्याय के प्रथमाधिकरण में कहा गया है कि नियोज्य पुरुष यागादिक्रिया को अपना कार्य समझता है। 'याग मेरा कार्य है' इस बोध को ही नियोग कहा जाता है। अभीष्ट स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थ का उपाय ही ऐसा कार्य हो सकता है। परन्तु यागादि क्रिया प्रतिक्षण नष्ट होनेवाली है, अतः वह कालान्तरभावी स्वर्गादि का उपाय नहीं हो सकती। इसलिए यागादि क्रिया से उत्पन्न स्वर्ग पर्यन्त रहनेवाला आत्मनिष्ठ, अपूर्व या अदृष्ट माना गया है। उसीको कार्य कहते हैं। वही वैदिक लिङादि शब्दों का अर्थ है और वही शाब्दी भावना है। उक्त नियोग ही यागादि क्रिया में पुरुषों की प्रवृत्ति कराता है। इस तरह जैसे लोक में लिङादि शब्दों का ले आना आदि कार्य अर्थ है, उसी तरह वेद के लिङादि शब्दों का अपूर्वरूपी कार्य अर्थ है। जैसे, लौकिक गाय को ले आने आदि कार्य में उक्त कार्यता (मुझे गौ ले आना चाहिए) ज्ञान से नियोज्य पुरुषों की प्रवृत्ति होती है, वैसे ही वैदिक यागादि क्रियाओं में भी नियोग (याग मेरा कार्य है, यज्ञ ज्ञान) रूपी शाब्दी भावना से नियोज्य पुरुषों की प्रवृत्ति होती है। यह प्रभाकर (गुरु) का मत है। तथा च कार्यताविषयक नियोगरूप बोध या विषयभूत कार्य ही प्रवर्तक है। परन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ प्रश्न उठता है कि अपूर्व में कार्यत्व क्या है, कृति (आन्तरिक प्रवृत्ति) की उद्देश्यता (जो कि क्रियाओं

का फल अर्थात् पुरुषार्थ में रहती है) है अथवा कृति की विषयता अर्थात् अनुष्ठेयतारूप (जो कि क्रिया में रहती है) है ? अपूर्व में दोनों ही नहीं बन सकती, क्योंकि अपूर्व न तो पुरुषार्थ है और न क्रियारूप ही। नियोग स्वयं व्यापाररूप नहीं है, अतः वह नियोग विषय नहीं हो सकता।

सन्ध्यावन्दनादि नित्यकर्मों के विधिवाक्यों में और ब्रह्महत्यादि के निषेधवाक्यों में उक्त अपूर्वरूपी कार्य की कल्पना नहीं हो सकती। क्योंकि सन्ध्यादि करने तथा ब्रह्महत्यादि न करने से कोई फल नहीं होता (जिस कर्म के करने से कोई फल नहीं होता है, परन्तु न करने से पाप होता है, उसे नित्य कर्म कहते हैं)। अतः ऐसे स्थलों में अपूर्व की कल्पना नहीं की जा सकती। स्वर्गादिरूप फल ही कार्य है, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यद्यपि उसमें कृति की उद्देश्यता है, तथापि यदि उसे ही कार्य माना जाय, तब तो उसीके ज्ञान से प्रवृत्ति भी माननी पड़ेगी। और यदि उसीको प्रवर्तक मान लिया जाय, तब तो लिङादि के अर्थज्ञान से प्रवृत्ति होती है—यह सिद्धान्त भङ्ग हो जायगा, क्योंकि स्वर्गादि कार्य लिङादि शब्द का अर्थ नहीं है।

इच्छा लिङादि का अर्थ है, यह छठा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि यद्यपि इच्छा प्रवृत्ति का कारण है। जिस विषय में इच्छा होती है, उसमें प्रवृत्ति होती हैं, यह सर्वसम्मत है। उसीके प्रभाव से इच्छाजनक अन्यों में भी प्रवर्तकता होती है। तथापि इच्छा लिङादि का अर्थ नहीं हो सकती। क्योंकि जैसे 'गामानय' इत्यादि लौकिक लिङादि का वक्ता पुरुष ही प्रवर्तक होता है, वैसे ही वैदिक लिङादिस्थल में भी इच्छा करनेवाला पुरुष ही प्रवर्तक समझा जायगा। परन्तु यह वैदिकों को सम्मत नहीं है। वैदिकों का सिद्धान्त यही है कि वैदिक लिङादि शब्द ही प्रवर्तक हैं,

इच्छा करनेवाला पुरुष तो उनका प्रवक्ता ही है (आज्ञाकारी ही है)। साथ ही यह भी दोष है कि शब्द अर्थज्ञान के लिए ही प्रयुक्त होता है। इच्छा का भी स्वभाव यह है कि वह स्वरूप से ही प्रवृत्ति कराती है, ज्ञान से नहीं। ऐसी स्थिति में लिङादि शब्द से इच्छा का ज्ञान कराये बिना भी प्रवृत्ति हो ही सकती है। फिर इच्छा को लिङादि का अर्थ मानना व्यर्थ ही है। इस पक्ष में यह भी एक दोष है कि यदि मान भी लिया जाय कि इच्छा के स्वरूप से प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु इच्छा के ज्ञान से प्रवृत्ति होती है; तो भी जैसे ज्ञान, सुख आदि का मन ही से ज्ञान होता है, उसी तरह इच्छा का भी मन से ही ज्ञान हो सकता है। फिर उसके ज्ञान के लिए लिङादि का प्रयोग व्यर्थ ही है।

फलनिष्ठ प्रीतिरूपता यह सातवाँ पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि इस पक्ष में प्रीतिरूप लिङादि अर्थ ही प्रवर्तना होगी। अतः प्रवर्तना के आश्रय स्वर्गादिरूप फल में ही प्रवृत्ति हो जायगी। यदि कहा जाय कि प्रवृत्तिरूप कृति क्रिया में ही होती है, फल में नहीं; क्योंकि फल कृति का विषय नहीं होता। अमुक क्रिया अमुक फल का साधक है, इस ज्ञान से ही क्रिया में प्रवृत्ति होती है। स्वर्गादि फल तो किसी अन्य फल का साधक नहीं होता, अतः उसमें प्रवृत्ति असम्भव है। परन्तु यह भी ठीक नहीं। क्योंकि फिर तो लाघवात् यही कहना चाहिए कि यागादि क्रियाओं में जो स्वर्गादि फलों के प्रति साधकता है, वही लिङादि शब्दों का अर्थ है। क्योंकि उसीके ज्ञान से क्रियाओं में पुरुषों की प्रवृत्ति होती है। यदि यह मान लिया जाय, तब तो सातवाँ पक्ष आठवें पक्ष में ही अन्तर्भूत हो जाता है।

फलसाधनता लिङादि अर्थ है, यह आठवाँ पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि यदि साधकता (फल का कारण होना) लिङादि

शब्दों का अर्थ है, तो वह तो यागादि क्रिया में ही रहती है, अतः क्रिया ही प्रवृत्ति का कारण हो जायगी। परन्तु यह इष्ट नहीं है, क्रिया तो प्रवृत्ति के पूर्वकाल में न रहकर प्रवृत्ति के उत्तर काल में ही रहती है, फिर वह प्रवर्तक कैसे होगी ?

फल में रहनेवाली साध्यता लिङादि अर्थ है, यह नवम पक्ष भी ठीक नहीं। क्योंकि फल भी प्रवृत्ति के पहले नहीं होता। दूसरा दोष यह भी होगा कि इससे फल में ही प्रवृत्ति का प्रसङ्ग होगा।

कृतिसाध्यता लिङादि अर्थ है यह दसवाँ पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि क्रिया में जो कृतिसाध्यता है वह तो पूर्वोक्त आर्थी भावना में ही अन्तर्भूत हो जाती है। आर्थी भावना सामान्य रूप से सभी आख्यातों का अर्थ है। कृति, प्रवृत्ति तथा आर्थी भावना एक ही वस्तु है। इसके अतिरिक्त कृतिसाध्यता के ज्ञान से यदि प्रवृत्ति हो, तब तो वह सभी आख्यातों से होता ही है। फिर सभी आख्यातों से प्रवृत्ति होनी चाहिए। अथवा जैसे अन्य आख्यातों से प्रवृत्ति नहीं होती, वैसे ही लिङादि से भी प्रवृत्ति नहीं होगी। कहा जाता है कि 'अपचत् (आज के पहले पकाया), पचति (पकाता है), पक्ष्यति (पकायेगा) इत्यादि-इत्यादि आख्यातों में भूतादि कालों का सम्बन्ध भी बोधित होता है। इसीलिए वहाँ कृतिसाध्यता का बोध नहीं होता, अतएव उनसे प्रवृत्ति नहीं होती। किन्तु लिङादि स्थलों में काल का बोध न होने से कृतिसाध्यता का बोध होता है। अतः उससे प्रवृत्ति होती है।' परन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि कृतिसाध्यता क्रिया में ही रहेगी। कृतिरूप प्रवृत्ति के पूर्व कृतिसाध्यता भी नहीं रह सकती। अतः जैसे क्रिया और फल प्रवृत्ति के कारण नहीं होते, वैसे ही कृतिसाध्यता भी प्रवृत्ति का कारण नहीं हो सकती। इसके

अतिरिक्त यदि कृतिसाध्यता का ज्ञान प्रवृत्ति का कारण हो, तब तो विषभक्षणादि में भी प्रवृत्ति होगी, क्योंकि कृतिसाध्यता का ज्ञान वहाँ भी हो सकता है।

इष्टसाधनता लिङादि का अर्थ है, ग्यारहवाँ पक्ष भी संगत नहीं है। क्योंकि इष्टसाधनता का ज्ञान तो चन्द्रमण्डलादि के आनयन में भी होता है, फिर तो चन्द्रमण्डल के लाने में भी प्रवृत्ति होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त यदि लिङादि से किसी क्रिया की कर्तव्यता का बोध न होगा, केवल इष्टसाधनता का ही बोध होगा, तब तो सन्ध्यावन्दनादि नित्यकर्मों की विधियों से पुरुषों की सन्ध्यावन्दनादि में प्रवृत्ति न होने से भी पाप न होगा। क्योंकि 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' इत्यादि विधियों का इष्टसाधनता ही अर्थ है, कर्तव्यता नहीं। साथ ही एक दोष यह भी होगा कि व्याकरण के अनुसार लिङादि प्रत्यय हैं, अतः वे अपनी यज् आदि प्रकृति के अर्थ से अन्वित ही अपने अर्थ का बोध करायेंगे। अतः इष्टसाध्यनातारूप प्रत्ययोंके अर्थ का सम्बधन यजि आदि (यागादि क्रिया) में ही रहेगा। इस कारण केवल क्रिया ही इष्टसाधन होगी, द्रव्यों में इष्ट साधनता न रहेगी।

यहाँ कहा जाता है कि 'इष्टसाधनता लिङर्थ है, तो आर्थी भावना के अनुसार कर्ता का ही इष्ट लिया जायगा। कर्ता भी वही होता है, जो क्रिया में प्रवृत्त होता है। क्रिया आन्तरिक प्रवृत्ति का विषय होती है, यही क्रिया की कर्तव्यता है। इस रीति से कर्तव्यता का बोध हो जाता है। चन्द्रमण्डल के ले आने में कृति-साध्यता न होने से कर्तव्यता बोध नहीं होता, इससे वहाँ प्रवृत्ति भी नहीं होती। द्रव्यादि में भी प्रवृत्ति का पूर्वोक्त उपादानता रूप सम्बन्ध रहता है, अतः उससे भी इष्टसाधनता का बोध हो ही सकता है।' परन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस तरह तो

आर्थी भावना के बल से इष्टसाधनता का भी बोध अर्थात् ही हो जायगा, तब तो अन्य आख्यातों के समान ही लिङादि का भी इष्टसाधनता अर्थ क्यों किया जाय? 'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः' अनन्यलभ्य ही शब्द का अर्थ होता है। जिसका बोध अन्य प्रकार से हो सकता है, वह शब्दार्थ नहीं है।

इसके अतिरिक्त एक इष्ट के साधन भी अनेक होते हैं। यदि इष्टसाधन से प्रवृत्ति हो, तो कोई विशेष न होने से एक ही पुरुष की सब साधनों में युगपत् प्रवृत्ति हो जायगी। अतः यह कहना पड़ेगा कि जिसमें इच्छा होती है, उसीमें प्रवृत्ति होती है। अतः इष्टसाधनता का ज्ञान प्रवृत्ति का कारण नहीं होता।

कृतिसाध्यता और इष्टसाधनता दोनों ही लिङादि अर्थ है। यह बारहवाँ पक्ष भी उपर्युक्त दोनों ही पक्ष के खण्डन से ही खण्डित हो जाता है।

इष्टसाधनत्वकृतिसाध्यत्व एवं बलवदनिष्टाननुबन्धित्व (इष्ट-की अपेक्षा अधिक अनिष्ट का साधन न होना) यह तीनों ही लिङादि के अर्थ हैं, यह तेरहवाँ पक्ष भी ठीक नहीं है। नव्य नैयायिकों के अनुसार आन्तरिक प्रवृत्ति के तीन कारण होते हैं—पहला, इष्टसाधनताज्ञान; जैसे भोजन तृप्ति का साधन है, इस ज्ञान से पुरुष की भोजन में प्रवृत्ति होती है। दूसरा, कृति-साध्यताज्ञान; जैसे मैं भोजन कर सकता हूँ, इस ज्ञान से भोजन में प्रवृत्ति होती है। इसी ज्ञान के न रहने से चन्द्रमण्डल के आनयन में पुरुष की प्रवृत्ति नहीं होती। चन्द्रमण्डल का आनयन इष्ट-साधन होने पर भी उसका लाना अशक्य होने से उसमें कृति-साध्यता का ज्ञान नहीं है; अतः प्रवृत्ति नहीं होती।

तीसरा, बलवदनिष्टाननुबन्धकत्वज्ञान प्रवृत्ति का कारण होता है। जैसे, भोजन करने में मुखादि का व्यापाररूप परिश्रम थोड़ा

है, उसकी अपेक्षा तृप्तिसुख अधिक है—इस ज्ञान से भोजन में प्रवृत्ति होती है। इसी ज्ञान के न होने से विष-मिश्रित मधुरान्न-भोजन में प्रवृत्ति नहीं होती। क्योंकि पुरुष समझता है कि 'यद्यपि इस अन्न के भोजन से तत्काल तृप्ति हो जायगी और मैं इस अन्न को खा भी सकता हूँ, तथापि इससे इष्ट की अपेक्षा मरणरूपी बलवान् अनिष्ट होता है।' अतः जैसे लौकिक वाक्यों में लिङादि के ये तीनों ही अर्थ होते हैं, उसी तरह वैदिक वाक्यों में भी लिङादि के ये ही अर्थ हैं। शाब्दी-भावना इससे भिन्न और कुछ नहीं है।

परन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि शाब्दी-भावना, प्रवर्तना या प्रेरणा की अपेक्षा विधि के ये तीन अर्थ मानने में गौरव दोष है। दूसरा दोष यह होगा कि कृतिसाध्यत्व, इष्टसाधनत्व आदि आर्थीभावना में अन्तर्भूत हैं, जैसे कि ऊपर कहा जा चुका है। इसी तरह बलवदनिष्टासाधनत्व का भी अर्थात् लाभ हो सकता है। ऐसी स्थिति में जो अर्थ सभी आख्यातों से निकल सकता है, उसीको लिङादि का विशेष अर्थ मानना व्यर्थ ही है। तीसरा दोष यह है कि 'मैं भोजन करता हूँ' इत्यादि वाक्यों में भी तीनों अर्थों का अर्थतः बोध होता ही है, तथापि उन वाक्यों से किसी-की प्रवृत्ति नहीं होती। अतः उक्त तीनों ज्ञान प्रवृत्ति के कारण नहीं हो सकते। चौथा दोष यह है कि जब इष्ट के बोधक स्वर्गादि शब्द वैदिक वाक्यों में वर्त्तमान ही हैं, तब लिङादि शब्द के इष्ट-रूपी अर्थ का वाक्यार्थ में सम्बन्ध ही नहीं होगा। पाँचवाँ दोष यह है कि शाब्दी-भावना जब लिङादि का अर्थ होता है, तब इति-कर्तव्यता आकाङ्क्षा के पूरक रूप से अर्थवादों की विधिवाक्यों के साथ एकवाक्यता हो जाती है। 'किं भावयेत्' इस साध्या-काङ्क्षा के पूरणार्थ अंशत्रयवती आर्थीभावना उपस्थित होती

है। साधनाकाङ्क्षा के पूरणार्थ लिङादि-ज्ञान उपस्थित होता है। इतिकर्त्तव्यताकाङ्क्षा के पूरणार्थ अर्थवाद उपस्थित होता है। यथा—

'आर्थीभावनां (पुरुषप्रवृत्तिं) भावयेत्, लिङादिज्ञानेन
भावयेत्, अर्थवादैः प्राशस्त्यमवबोध्य भावयेत्।'

अर्थात् पुरुषप्रवृत्ति उत्पन्न करे। लिङादिज्ञान से पुरुषप्रवृत्ति उत्पन्न करे, अर्थवाद द्वारा स्तुति करके पुरुषप्रवृत्ति उत्पन्न करे। इसी तरह अर्थवाद धर्म में प्रमाण होता है। परन्तु यदि शाब्दी-भावना को लिङादि का अर्थ न माना जायगा, तो अर्थवादों की विधि के साथ एकवाक्यता होने का कोई मार्ग ही न रह जायगा। फलतः नैयायिकसम्मत अर्थ करने पर अर्थवाद अप्रमाण ही ठहरेंगे।

इसी तरह प्रवर्तनारूप इष्टसाधनता लिङादि का अर्थ है, यह चौदहवाँ पक्ष भी संगत नहीं है। यह मण्डनाचार्यसम्मत पक्ष है। उनका कहना है—

"पुंसां नेष्टाभ्युपायत्वात् क्रियास्वन्यप्रवर्तकः।
प्रवृत्तिहेतुं धर्मञ्च प्रवदन्ति प्रवर्तनाम्॥"

अर्थात् प्रवर्तना ही लिङादि शब्दों का अर्थ है। उसीके ज्ञान से पुरुष की प्रवृत्ति होती है। इष्टसाधनता से भिन्न अन्य कोई प्रवर्तक नहीं हो सकता, अतः प्रवृत्तिहेतु इष्टसाधनतारूप प्रवर्तना ही लिङादि का अर्थ मान्य होना चाहिए, नैयायिकों के समान इष्टसाधनता नहीं। कृतिसाध्यता तो लोक से ही लभ्य होती है, अतः उसे लिङादि का अर्थ मानना ठीक नहीं। बलवदनिष्टाजन-कत्व प्रवृत्तिबाधक द्वेष के अभाव में ही कारण है। परन्तु इस पक्ष में भी अर्थवादों के संग्रह का कोई प्रकार नहीं है।

आप्तों का अभिप्राय लिङादि का अर्थ है, यह पंद्रहवाँ पक्ष भी ठीक नहीं। यह उदयनाचार्य का मत है—

'विधिर्वक्तुरभिप्रायः प्रवृत्त्यादौ लिङादिभिः।
अभिधेयोऽनुमेयात्तु कर्तुरिष्टाभ्युपायता॥'

—(न्यायकुसुमाञ्जलि)। अर्थात् आप्त (सत्यनिष्ठ) पुरुष की इच्छा ही लिङादि शब्दों का अर्थ है। 'पाकं कुर्याः', 'पाकं कुर्याम्' (तुम भोजन बनाओ, मैं भोजन बनाऊँ) इत्यादि रूप से मध्यम एवं उत्तम पुरुष में लिङादि शब्दों की इच्छाविशेषरूपी आज्ञा (भयजनक इच्छा) ही अर्थ होता है। इसी तरह अध्येषणा (नियोजक की नियोज्य के प्रति अनुग्रहरूपा इच्छा), अनुज्ञा (निषेधाभावद्योतिका इच्छा), प्रश्न (उत्तरवाक्य की प्रयोजिका इच्छा), प्रार्थना (प्राप्ति की इच्छा) भी लिङादि का है। इसी तरह 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि प्रथम पुरुष के वाक्यों में भी आप्त पुरुष की इच्छा ही लिङादि का अर्थ है। अर्थात् आप्त पुरुष की यह इच्छा है कि स्वर्ग की कामनावाला पुरुष यज्ञ करे या स्वर्गकामी को यज्ञ करना चाहिए। इस तरह आप्त का अभिप्राय ही लिङादि का अर्थ है। इसीसे याग में इष्टसाधनता का अनुमान होता है—"स्वर्गकामस्य मम यागः इष्टसाधनम्" (मुझ स्वर्ग चाहनेवाले के लिए याग इष्टसाधन है) "कर्तव्यत्वेनाप्तोक्तलिङ्पदवाच्येच्छाविषयत्वात्" (कर्त्तव्यरूप से याग आप्तोक्त वाक्यगत, लिङादिबोध्य इच्छा का विषयक होने से), जैसे मेरे पिता की इच्छा का विषय मेरा भोजन होता है। अर्थात् जो-जो क्रिया आप्त के कहे हुए लिङादिशब्दों से बोध्य इच्छा का विषय होती है, वह अवश्य इष्टफल की साधक होती है। जैसे मेरे पिता के कहे हुए 'त्वं खाद' (तुम खाओ) इत्यादि

वाक्यगत लिङादिबोध्य इच्छा का विषय मेरा भोजन आदि है और वह तृप्ति आदि का साधक हुआ करता है। यागादि वैदिक क्रियामें भी आप्तपुरुष के कहे हुए 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वाक्यगत लिङादिबोध्य इच्छा के विषय हैं, अतः ये भी स्वर्गादि-रूप इष्ट के साधक हैं।

विष-भोजनादि किसीके लिए कृतिसाध्य है तथा ईश्वररूप आप्त की इच्छा का विषय भी होता है, तो भी वह इष्ट का साधक नहीं है। क्योंकि 'स्वर्गकामो यजेत' के समान 'विषं भुञ्जीत' इत्यादि लिङ् शब्द ईश्वर ने नहीं कहा है। अतः उसका इष्टसाधक न होना उचित ही है। वैदिक विधिवाक्यों के स्थल में परमेश्वर ही आप्त-पुरुष है। अतः जैसे कुमारी का गर्भ उसके पुरुषसंयोग में दृढ़-प्रमाण है, वैसे ही वैदिक श्रुतियों के लिङादि शब्द ही उन श्रुतियों के परमेश्वर रचित होने में दृढ-प्रमाण हैं। परन्तु यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि वेद अपौरुषेय है, अतः पुरुष का अभिप्राय वैदिक लिङादि का अर्थ कथमपि नहीं है।

वस्तुतः वेद चाहे पौरुषेय हो या अपौरुषेय, फिर भी वैदिक विधिवाक्यों से अर्थबोध होता ही है। अतः वैदिक लिङादि का ऐसा ही अर्थ करना चाहिए, जो उभयपक्ष से मान्य हो। इस तरह पन्द्रह पक्ष उपस्थित करके पूर्वपक्षी ने सभी पक्षों का निराकरण किया है। किन्तु सिद्धान्त यही है कि लोकप्रवृत्ति-हेतुरूप से प्रवर्तना सर्वलोक के अनुभव से सिद्ध है।

ऐसी स्थिति में लौकिक कर्मों के राजा आदि प्रेरक न कहला सकेंगे। यदि ईश्वर को साधारण प्रेरक और राजादि को असाधारण प्रेरक माना जाय, तब तो फिर वैदिक कर्मों में भी

राजा आदि के समान वेदों को ही प्रेरक मानना चाहिए। जैसे राजादि की असाधारण प्रेरणा के बिना ईश्वर की प्रेरणा लोगों को लौकिक कार्यों में प्रवृत्त नहीं करती, वैसे ही वेद की असाधारण प्रेरणा के बिना ईश्वर-प्रेरणामात्र से वैदिक कर्मों में पुरुषों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। वेद की वह असाधारण प्रेरणा ही उक्त शाब्दी-भावना है। यह बात पौरुषेयत्ववादी को भी माननी होगी।

यदि वेद में ईश्वर-प्रेरणा मानी जाय, तब तो वेदविदित कर्मों को सभी करेंगे ही, उनका कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता। अज्ञानी प्राणी स्वयं सुख-दुःख में परतंत्र है, वह तो ईश्वर की प्रेरणा से ही कभी स्वर्ग, तो कभी नरक जाता है।

"अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वाश्वभ्रमेव वा ॥"

ऐसी स्थिति में निषिद्ध कर्म भी विहित ही समझे जायँगे। अतः जैसे राजा आदि प्रवर्तनज्ञान कराकर, इच्छा उत्पन्नकर कर्मों में प्रवृत्त कराता है, वैसे ही वेद भी कराता है। अतः लोक-वेद दोनों में प्रवृत्ति कराने की व्यवस्था एक ही है। वेद पूर्व-मीमांसकों के मत में अत्यन्त स्वतंत्र हैं, पर उत्तर मीमांसक वेदान्तियों के मत से वे ईश्वर द्वारा प्रतिकल्प में आविर्भूत होते हैं, तो भी परब्रह्म के श्वास-तुल्य स्वाभाविक हैं। अतः अपौरुषेयता दोनों ही मतों में मान्य है। जैसे जीव, ईश्वर आदि ब्रह्म के अनेक विवर्त्त अनादि माने गये हैं, वैसे वेद भी अनादि ही हैं।

निवृत्ति का कारण और निवृत्तिवाले में रहनेवाली निवारण-रूपी शाब्दी-भावना है। उसीको 'निवर्तना' भी कहते हैं। जैसे

प्रवर्त्तना का मानस प्रत्यक्ष भी होता है, वैसे ही 'मैं इस पुरुष को इस काम से निवृत्त करता हूँ', यह निवारणा भी मानस प्रत्यक्ष से ज्ञात होता है। लौकिकी प्रवर्तना से विलक्षण वैदिकी प्रवर्तना के समान ही निवर्त्तना भी लौकिकी, वैदिकी दो प्रकार की है। प्रवर्तना के समान निवर्तना भी यद्यपि चेतन का ही धर्म है, तथापि वेद का कर्त्ता कोई पुरुष नहीं है। इसीलिए वैदिक लिङादि की निवर्तना भी विलक्षण है। यही निवर्तना 'निषेध' आदि शब्दों से व्यवहृत होती है। यहाँ निवृत्ति भाव्य है, शक्तिज्ञान या शक्ति-विशिष्ट ज्ञान करण है।

'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययन विधि का यह अर्थ है कि गुरु-मुख से अधीत वेदाक्षरों को यथाशक्ति पुरुष का उपकार करना चाहिए। इसी अर्थ के अनुसार अध्ययनविधि अपने और अपने से अन्य वैदिक वाक्यों को अक्षरशः पुरुष के उपकार में लगाती है। एक अक्षर को भी व्यर्थ नहीं होने देती। अतएव वैदिक वाक्यों के सभी लिङादि शब्दों को यही अध्ययनविधि 'ये पुरुषों की प्रवृत्ति करायें' इस रीति से प्रवृत्ति कराने में नियुक्त करती है। इसी दृष्टि से वैदिक लिङादि शब्द ही यज्ञादि कर्मों में पुरुषों को प्रवृत्त कराते हैं। अतः वे प्रयोजक कर्ता हैं और पुरुष प्रयोज्य कर्ता हैं। इस तरह पुरुषप्रवृत्तिरूप आर्थी-भावना के अनुकूल शाब्दी-भावना लिङादि शब्दों से ही सम्पन्न होती है।

शाब्दी-भावना क्या है? इस विषय पर पूर्वमीमांसकों के बहुत शास्त्रार्थ हैं। संक्षेप में यों समझ सकते हैं कि एक पुरुष की आन्तरिक प्रवृत्ति का कारण अन्य पुरुष का आन्तरिक व्यापार प्रसिद्ध है। उसे ही प्रवर्त्तना या प्रेरणा कहा जाता है। 'मैं राजा से प्रेरित हूँ, बालक या ब्राह्मण से प्रेरित हूँ' इत्यादि उक्तियाँ उसी

प्रवर्तना को लेकर होती हैं। प्रवर्तक राजा आदि में यह प्रवर्तना रहती है। बड़ों की छोटों के प्रति प्रवर्तना को 'आज्ञा प्रेषणा' आदि भी कहा जाता है। बड़ों के प्रति छोटों की प्रवर्तना को 'याञ्चा' और 'अध्येषणा' कहते हैं। तुल्य की प्रवर्तना को 'अनुज्ञा' और 'अनुमति' कहा जाता है। आज्ञादिरूप प्रवर्तनाएँ चाहे ज्ञानरूप हों, चाहे इच्छारूप, परन्तु चेतन का ही धर्म है, अचेतन का नहीं। वेद में भी विधिवाक्यों से प्रवृत्त होकर 'मैं यज्ञ करता हूँ' इत्यादि व्यवहार प्रसिद्ध ही है। परन्तु वेद स्वयं अचेतन है, इससे उसमें आज्ञारूप प्रवर्तना नहीं बन सकती। वेद का कोई कर्ता नहीं, अतएव कर्ता के द्वारा परम्परा सम्बन्ध से भी आज्ञादि नहीं बन सकते। फिर भी 'मैं वेदविधि की प्रेरणा से यज्ञ करता हूँ' इत्याकारक व्यवहार होने से वैदिक लिङादि शब्दों में उक्त आज्ञादि से भिन्न प्रवर्तनारूप धर्म सिद्ध होता है। वही 'चोदना, प्रवर्तना, प्रेरणा, विधि, उपदेश शब्द-भावना' आदि शब्दों से कहा जाता है। पूर्वोक्त व्यवहार और शब्द-भावना में रहनेवाला प्रवर्तनात्व धर्म, जो कि आज्ञादिरूप प्रवर्तनाओं में भी रहता है, दोनों ही प्रत्यक्ष है। यह शाब्दी-भावना ज्ञान-इच्छादिरूप चेतन-धर्मों से भिन्न है। वह अलौकिक क्रिया है। प्रवर्तना प्रवर्तक पुरुष में ही रहती है, यह लोकप्रसिद्ध है। अन्यथा 'अमुक ही मुझे प्रवृत्त करा रहा है' ऐसी व्यवस्था ही न बन सकेगी।

कहा जाता है कि 'प्रवर्त्तना का ज्ञान करानेवाला ही प्रवर्तक होता है। प्रवर्तना उसमें रहे, यह आवश्यक नहीं' किन्तु यह ठीक नहीं; क्योंकि ऐसी स्थिति में तो 'देवदत्त तुम्हें प्रवृत्त कराता है' यह कहनेवाला यज्ञदत्त भी प्रवर्त्तक समझा जायगा, कारण प्रवर्त्तना का ज्ञान करानेवाला वही है। इसीलिए न्यायसुधाकार

ने प्रवर्त्तक पुरुष में रहनेवाले प्रवृत्तिकारण को ही प्रवर्तना कहा है—"प्रवृत्तिहेतुः प्रवर्तयितुर्धर्मः प्रवर्तना।" "मैं इसे प्रवृत्त करा रहा हूँ" इस तरह प्रवर्त्तयिता का मानस-प्रत्यक्ष ही इसमें प्रमाण है।

लिङादि शब्दों की शाब्दी-भावना का निश्चय इस क्रम से होता है कि बालक के रोदन से माता 'बालक भूखा है, मुझे दूध पिलाने के लिए प्रवृत्त करता है' यह जानकर प्रवृत्त होती है। तब बालक भी जानता है कि इसकी प्रवृत्ति का कारण मेरी प्रवर्तना ही है। इसी तरह प्रयोजक वृद्ध के "गामानय" (गौ लाओ) इस वाक्य से प्रयोज्य पुरुष की प्रवृत्ति देख, माता की प्रवृत्ति के दृष्टान्त से, बालक जानता है कि इस प्रवृत्ति का भी कारण प्रवर्तना का ज्ञान ही है। फिर वह विचार करता है कि प्रयोज्य पुरुष को प्रयोजक पुरुष ही प्रवर्तना का ज्ञान कैसे हुआ? जब उसे 'आनय' (लाओ) इत्यादि लिङादि शब्द के अतिरिक्त और किसी कारण का पता नहीं लगता, तो उसे ही प्रवर्तनाज्ञान का कारण समझ लेता है। इसी प्रवर्तना में लिङादि शब्दों का शक्तिग्रह है। प्रवर्तनारूप होने से आज्ञादि भी लिङादि के ही अर्थ हैं। वैदिक लिङादिकों में अचेतन होने के कारण आज्ञादि प्रवर्तनाओं का होना सम्भव नहीं है। इसीसे उनसे विलक्षण एक नये प्रकार की प्रवर्तना वेद में मानी जाती है, जिसे 'विधि-प्रेरणा' या 'नियोग' कहा जाता है। विशेषरूप से ज्ञात घटादि अर्थ में ही घटादि शब्दों की शक्ति का ज्ञान होता है। अतएव यद्यपि इस अलौकिक नियोग में लिङ् का शक्तिग्रह सम्भव नहीं, तो भी प्रवर्तना सामान्य वस्तु में ही लिङादि की शक्ति का ज्ञान होता है। प्रवर्तना सामान्य में अन्तर्भूत होने के कारण वैदिक लिङादि शब्दों का अमुख्य (लक्ष्य) अर्थ नियोग भी होता है। अतएव

अलौकिक वैदिक प्रेरणा में विशेष रूप से लिङादि शब्दों की शक्ति का निश्चय न होने पर भी वैदिक लिङादि शब्दों से प्रेरणा का बोध होता है।

यद्यपि राजा आदि के समान लिङादि शब्द साक्षात् फल-दाता नहीं है, तथापि इष्टफलसाधनता के बिना प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतः इष्टफलसाधक होने से लिङादि शब्दों से यज्ञादि में प्रवृत्ति होती है। अतएव वैदिक लिङादि शब्द प्रवर्तक होते हैं, क्योंकि प्रवर्तक पुरुष की प्रवर्तनारूपी भावना का प्रवर्त्त्य पुरुष की प्रवृत्तिरूप आर्थी-भावना होती है। यह देखा जाता है कि 'गामानय' (गौ लाओ) इस आज्ञा के अनन्तर प्रयोज्य पुरुष ने गौ को ढूँढ़ा, परन्तु गौ के न मिलने से गवानयन न होने पर भी आज्ञा देनेवाला यही मानता है कि इसने मेरी आज्ञा मानी। 'मेरे सामने से हटो' ऐसी आज्ञा से, स्वयं प्रयत्नशील न होने पर एवं किसी दूसरे द्वारा हटाये जाने पर भी, प्रयोजक यह समझता है कि इसने मेरी आज्ञा नहीं मानी। यह प्रवर्तना चेतन की ही होती है। इसीलिए प्रवृत्तिरूपी अर्थभावना ही प्रवर्तना का विषय होती है। प्रवृत्ति आन्तरिक प्रयत्नरूप है, वह इच्छा के बिना नहीं होती। परन्तु यागादिरूप श्रमसाध्य उपायों के बिना स्वर्गादि पुरुषार्थप्राप्ति असम्भव होती है। अतएव यदि यागादि पुरुषार्थ साधक न हो, तो उनमें किसीकी भी इच्छा नहीं हो सकती। एवं बिना प्रकृति के लिङादि शब्द प्रवर्तक नहीं होते। ये सब बातें लोक ही सिद्ध हैं। अतः वैदिक वाक्य लिङादि द्वारा ही यागादि पुरुषार्थ के साधक हैं, यह कल्पना होती है।

कहा जा सकता है कि 'यागादि पुरुषार्थ के साधक हैं' इस ज्ञान से ही इच्छा और उससे प्रवृत्ति बन जायगी। फिर लिङादि

क्यों प्रवर्तक माने जायँ ?' परन्तु यह तो तब सम्भव था, जब लौकिक प्रत्यक्ष से ही यागादि को स्वर्गादि के प्रति साधनता सिद्ध होती। तब तो भोजनादि के सामान यागादि में इच्छा और प्रवृत्ति हो सकती। जब यहाँ लिङादि शब्दों को प्रवर्तक बनाने के लिए ही यागादि को स्वर्गादिसाधक होने की कल्पना की जा रही है, तब तो लिङादि के बिना यह कुछ भी नहीं सिद्ध हो सकता। अतएव वैदिक शब्दों में रहनेवाली प्रवर्तना प्रत्यक्ष से बोध्य नहीं है। इसीसे वैदिक लिङादि शब्दों से ही उसकी कल्पना की जाती है। अतः वही शाब्दी-भावना है। यह सोमेश्वर भट्ट का मत है।

शास्त्रदीपिकाकार का कहना है कि 'साध्य, साधन, इतिकर्तव्यता इन तीनों अंशों से युक्त आर्थी-भावना का ज्ञान कराना ही वैदिक लिङादि शब्दों का व्यापार है। यही व्यापार प्रवृत्ति का कारण है। अतएव प्रवर्त्तनारूप भी है। इस दृष्टि से अभिधा ही भावना है—"अभिधा भावनामाहुरन्यामेव लिङादयः।" सारांश यह है कि अभिधा उस शक्ति का नाम है, जिससे अर्थ का बोध होता है। वह शक्ति और लिङादि शब्द दोनों ही लोकप्रसिद्ध हैं। अतः वह शक्ति प्रवृत्तिरूपा आर्थी-भावना का बोध कराकर पुरुषों की प्रवृत्ति को उत्पन्न करती है। इसी से वह प्रवर्त्तना कहलाती है। लिङादि शब्द का अर्थ भी वही है। इस पक्ष में यह दोष दिया जाता है कि प्रवृत्तिरूप भावना का बोध तो लिङ् से अन्य लडादि, पचति, गच्छति (पकाता है, जाता है) आदि आख्यातों से होता है, परन्तु उनसे प्रवृत्ति नहीं होती। यदि अन्य आख्यातों की अपेक्षा लिङादि का कोई विशेष अर्थ हो, जिससे प्रवृत्ति सिद्ध होती हो—अन्य से नहीं, तब तो उसी

विशेष अर्थ को प्रवर्तना और लिङादि का अर्थ मानना चाहिए। फिर तो अभिधा को प्रवर्तना या लिङ् का अर्थ मानना व्यर्थ है। यदि कहा जाय कि 'अन्य आख्यातों से कही गयी अभिधा से प्रवृत्ति नहीं होती, लिङादि से कहीं जाकर वह प्रवृत्ति कराती है। इस तरह की विशेषता अभिधा में रहती है।' तो वह भी उचित नहीं, क्योंकि वैसी स्थिति में उस विशेष से ही काम चल जायगा, अभिधा को लिङ् का अर्थ मानना व्यर्थ होगा।

फिर प्रश्न होगा कि 'अभिधा लिङादि द्वारा प्रवृत्ति का कारण है' यह बतलाने के पहले भी उनमें प्रवृत्ति कराने की शक्ति है या नहीं? यदि है, तो बतलाने का प्रयोजन ही क्या? यदि नहीं, तो बतलाने के अनन्तर भी वह असम्भव ही है। जैसे राजा और आचार्य अभिधाज्ञान कराये बिना ही प्रवर्तक होते हैं, वैसे ही वैदिक लिङादि भी अभिधा का ज्ञान कराये बिना ही प्रवर्तक होंगे। फिर अभिधा को लिङादि का अर्थ मानना व्यर्थ ही है।' परन्तु इन दोषों का निराकरण इस तरह हो जाता है कि वैदिक लिङादि शब्द प्रवृत्ति के कारण हैं। अभिधा तो उनका व्यापारमात्र है। यह बात प्रथम पक्ष-पोषक को भी माननी होगी कि अग्निहोत्रादि कर्मों में पुरुषों की प्रवृत्ति देखकर वैदिक लिङादि में एक अलौकिक व्यापार मानना चाहिए और वही लिङादि शब्दों का अर्थ और प्रवर्तनारूप है। प्रवृत्ति की कारणभूत इच्छा और उसके भी मूल इष्टसाधकता का अनुमान भी इसी प्रवर्तना से होता है। ये ही सब बातें इस पक्ष में भी हैं। भेद इतना ही है कि वहाँ अलौकिक व्यापार की कल्पना होती है, पर यहाँ वह गौरव नहीं है; क्योंकि प्रवृत्ति के कारणीभूत व्यापार को ही प्रवर्तना कहा जाता है। प्रवृत्तिरूप आर्थीभावना सभी आख्यातों का अर्थ है। लिङादि भी उन्हींमें हैं। प्रवृत्तिरूपी आर्थीभावना का ज्ञान लिङादि शब्द

कराते हैं, इसीसे वे उसके वाचक हैं। लिङादि शब्दों के द्वारा प्रवृत्ति को बिना जाने पुरुष की प्रवृत्ति नहीं होती। इसीसे प्रवृत्ति के ज्ञान द्वारा लिङादि शब्द प्रवृत्ति के कारण होते हैं। 'लिङादि शब्द प्रवृत्ति के वाचक हैं' यह श्रोताओं का ज्ञान ही लिङादि शब्दों का वह व्यापार है, जो प्रवृत्तिरूपी आर्थीभावना के ज्ञान का जनक है। इसीसे इसको प्रवर्तना भी कहते हैं। क्योंकि शब्द ज्ञान के द्वारा ही प्रवृत्ति का कारण होता है, इसी से ज्ञान का जनक व्यापार ही शब्द का व्यापार हो सकता है।

आर्थींभावनारूप प्रवृत्ति के ज्ञान को उत्पन्न करनेवाला लिङादि शब्दों का व्यापार तीन प्रकार का होता है—'एक लिङादि शब्दों का श्रवण; दूसरा प्रवृत्ति का ज्ञान कराने की शक्ति का ज्ञान और तीसरा 'प्रवृत्ति' बोध कराने की शक्ति लिङादि शब्दों में है—इसका ज्ञान। प्रथम दो में से किसीको भावना कहा जा सकता है। तीसरा ज्ञान इस शाब्दी-भावना का कारण है। लिङादि शब्दों के श्रवण द्वारा उन्हींसे उक्त शक्ति का ज्ञान होता है और यही ज्ञान उनका अर्थ है। अतः उसी ज्ञान को प्रवर्तनारूप से भी बोध कराते हैं। जैसे आर्थी-भावना के साध्य, साधन, इतिकर्तव्यता ये तीन अंश होते हैं, वैसे ही शाब्दी-भावना में भी तीन अंश होते हैं। इस भावना का प्रवृत्तिरूपा आर्थी-भावना ही भाव्य है, प्रवृत्ति-बोधक लिङादि का ज्ञान साधन और अर्थवादों से बोधित स्तुति इतिकर्तव्यता है।

किसीका यह भी मत है कि तृतीय ज्ञान ही शाब्दी-भावना है और द्वितीय ज्ञान उसका कारण है। यहाँ कहा जा सकता है कि 'पिघला मत अर्थात् प्रथम दो में से एक ज्ञान शाब्दी-भावना है, तीसरा ज्ञान उसका कारण है, यह ठीक नहीं; क्योंकि बाणादि-

रूप करण मरण आदिरूप क्रिया के अव्यवहित पूर्वकाल में रहते हैं। किन्तु यहाँ तो तृतीय पक्ष उक्त दो ज्ञानों के पश्चात् होता है। फिर वह पूर्व में होनेवाली शाब्दी-भावना का करण कैसे हो सकता है?' समाधान यह है कि जैसे "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि वाक्योंमें याग प्रवृत्तिरूपा आर्थी-भावना का करण होता है, वैसे ही तृतीय ज्ञान भी पूर्वज्ञानरूपा शाब्दी-भावना का करण होता है।

परन्तु यहाँ यह कहा जा सकता है कि 'यागादि क्रिया आर्थी-भावना का करण है, यह दृष्टान्त भी ठीक नहीं है। क्योंकि आर्थी-भावना आन्तरिक प्रवृत्तिको ही कहा जाता है। वही सब क्रियाओं का कारण होती है। इसीसे वह सब क्रियाओं के पूर्व में ही रहती है। ऐसी स्थिति में जब यागादि क्रिया आर्थी-भावना के पूर्व में नहीं रहती, तो फिर वह उसका कारण कैसे हो सकती है? फिर इस दृष्टान्त के बल पर यह कैसे कहा जा सकता है कि तृतीय ज्ञान शाब्दी-भावना का कारण है। प्रत्युत यही कहना ठीक है कि 'तृतीय ज्ञान शाब्दी-भावना है, द्वितीय ज्ञान उसका करण है।' विचार करने पर उक्त कथन भी संगत नहीं जान पड़ता। यद्यपि प्रवृत्तिरूप आर्थी-भावना याग के पूर्व में रहती है, परन्तु स्वर्ग आदिरूप पुरुषार्थ, जो कि आर्थी-भावना का भाव्य (फल) है, वह याग से उत्तर काल ही में होता है। याग स्वर्ग आदि का करण भी है, अतएव यद्यपि यागादि केवल आर्थी-भावना का करण नहीं है, तथापि फल का करण होने से याग स्वर्ग आदि फलयुक्त भावना का करण है। आर्थी-भावना के सम्बन्ध में सभी मीमांसकों का यही मत है। शाब्दी-भावना भी भावना ही

है, अतः इसमें भी वैसा मानना अनुचित नहीं। यद्यपि तृतीय ज्ञान उक्त दो अन्य ज्ञानरूप शाब्दी-भावना के पूर्व में नहीं रहता, तथापि उस शाब्दी-भावना के भाव्य आन्तरिक प्रवृत्तिरूप आर्थी-भावना के पूर्वकाल में अवश्य रहता है और उसका कारण भी है। अतः प्रवृत्तिरूप फल से युक्त पूर्वज्ञानरूप शाब्दी-भावना का तृतीय ज्ञान ही कारण हो सकता है। आर्थी-भावना याग-क्रिया का कारण नहीं हो सकती, क्योंकि उसका कोई व्यापार नहीं है। याग का तो अपूर्वरूप व्यापार है। अतः वह करण हो सकता है।

यहाँ यह भी आक्षेप किया जाता है कि 'पदों से जो अर्थ उपस्थित होते हैं, उन्हींके अन्योन्य सम्बन्ध का बोध पदसमूहरूप वाक्यों से होता है। इस रीति से शाब्दी-भावना के साथ प्रवृत्तिरूप आर्थी-भावना के सम्बन्ध का बोध वैदिक विधिवाक्यों से हो सकता है, क्योंकि आर्थी-भावना आख्यातरूप लिङादि शब्दों से उपस्थित होती है। परन्तु तृतीय ज्ञानरूपी करण के सम्बन्ध का बोध वैदिक विधिवाक्यों से नहीं हो सकता, क्योंकि वह किसी पद से उपस्थित नहीं है।

'इसी प्रकार जिस मत में तृतीय ज्ञान ही शाब्दी-भावना है, उस मत से वह यद्यपि शब्द से उपस्थित है, तथापि द्वितीय ज्ञान-रूप सम्बन्धज्ञान, जो कि करण है, किसी शब्द से उपस्थित नहीं होता। अतः तृतीय ज्ञानरूप शाब्दी-भावना से उसके सम्बन्ध का ज्ञान विधिवाक्य से नहीं हो सकेगा।'

इसका भी समाधान यह है कि लिङादि प्रत्ययरूप शब्द तो श्रवणेन्द्रिय से उपस्थित होता है। आर्थी-भावना का बोध कराने की शक्ति भी स्मरण से उपस्थित है। इस रीति से उन दोनों का

परस्पर सम्बन्ध और उस सम्बन्ध का ज्ञानरूप तृतीय ज्ञान भी श्रोताओं के अन्तःकरण में उपस्थित है। इस रीति से तृतीय ज्ञान का कोई अंश ऐसा नहीं है, जो उपस्थित न हो। अतः सर्वांशपूर्ण तृतीय ज्ञान उपस्थित ही है। इसीसे पूर्वज्ञानरूप शाब्द-भावना के साथ उसका सम्बन्ध-बोध वैदिक लिङादि शब्दों से सहज ही हो जाता है। लिङादि शब्दों का श्रवणरूप पहला ज्ञान है, प्रवृत्तिज्ञान कराने की शक्ति का ज्ञान दूसरा ज्ञान है। प्रवृत्ति का बोध कराने की शक्ति लिङादि शब्दों में है—यह ज्ञान तीसरा ज्ञान है।

जिस मत में द्वितीय ज्ञान शाब्दी-भावना का करण है, उसमें भी कोई दोष नहीं है; क्योंकि द्वितीय ज्ञान भी श्रोताओं के अंतः-करण में उपस्थित रहता है। अतः उसका सम्बन्ध-बोध भी लिङादि शब्दों से हो ही सकता है। अर्थात् विधि शब्द श्रवण से उपस्थित है। उसमें पुरुषप्रवृत्ति-वाचकता की शक्ति स्मरण से उपस्थित है। उन दोनों का वैशिष्टय एवं उसकी ज्ञातता मन में उपस्थित है। इस तरह वाचकता-शक्तियुक्तरूप से ज्ञान विधि-शब्द से उपस्थित है।

फिर भी यहाँ कहा जाता है कि 'जो अर्थ पदों से उपस्थित होता है, वाक्य से उसीके सम्बन्ध का बोध होता है। अतएव श्रोता के अन्तःकरण में अश्व के उपस्थित होने पर भी "गामानय" (गाय लाओ) इस वाक्य से "अश्व लाओ" का बोध नहीं होता। इसीलिए कि अश्व भले ही अन्तःकरण में उपस्थित हो, परन्तु वह शब्द से उपस्थित नहीं है। अतः उक्त तृतीय या द्वितीय ज्ञान यदि शब्द से उपस्थित नहीं है, तो

अन्तःकरण में उपस्थित होने पर भी उनका सम्बन्ध वाक्यार्थ कैसे होगा ?'

पर उक्त कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह पहले कहा जा चुका है कि प्रत्येक विधिशब्दों के विषय में "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस सर्वव्यापी वैदिक विधिवाक्य का यही तात्पर्य है कि इस शब्द से जो हो सकता है, सो करे। इसके अनुसार शब्द के अतिरिक्त करण द्वारा भी जो अर्थ उपस्थित होता है, वह भी शाब्दबोध में भासित होता है। अतएव "उद्भिदा यजेत पशुकामः" इस वाक्य से श्रवणेन्द्रिय द्वारा उपस्थित उद्भिद् शब्द के सम्बन्ध का भी बोध होता है। अतः उद्भिद्-अधिकरण में यह कहा गया है कि "अनुपस्थितविशेषणविशिष्टे बुद्धिर्न भवति, न त्वनभिहितविशेषणेति।" अर्थात् यदि विशेषण उपस्थित ही न हो, तब तो विशिष्ट बुद्धि नहीं होती, परन्तु यदि शब्द द्वारा विशेषण उपस्थित न हो, तो विशिष्ट बुद्धि न होने का नियम नहीं है। अर्थात् यह नियम नहीं कि शब्द द्वारा ही उपस्थित विशेषण के सम्बन्ध का वैदिक शब्दों से बोध होता है। किन्तु अन्य प्रकार से उपस्थित विशेषण के सम्बन्ध का भी उनसे बोध होता है।

वस्तुतः लिङादि शब्दों की आज्ञादि पृथक्-पृथक् अर्थों में शक्ति मानने से गौरव होगा। अतः सामान्य रूप से प्रेरणा ही लिङादि शब्दों का अर्थ है। उसीमें आज्ञा आदि सभी विशेष प्रकार अन्तर्गत हो जाते हैं। प्रेरणा भी एक प्रकार का व्यापार ही है, जो कि चेतन, अचेतन सभीमें सम्भव है। इस दृष्टि से शाब्दी-भावना भी वैदिक लिङादि का अर्थ है, क्योंकि वह भी शब्द-व्यापार ही है। जैसे लोक में राजा आदि पुरुषों के प्रवर्तक होते हैं, वैसे ही वेद में लिङादि शब्द ही यज्ञादि में पुरुषों के प्रवर्तक होते हैं। नैयायिक आदि लिङादि शब्दों को ही देखकर

आज्ञा देनेवाले ईश्वर से वेदों का निर्माण मानते हैं। परन्तु इस पक्ष में अपौरुषेयता-सिद्धान्त का हनन हो जाता है। फिर तो बुद्धवाक्य भी ईश्वरोक्त होने से प्रामाण्य हो जायगा, कई लोग बुद्ध को भी ईश्वरावतार मानते ही हैं।

यदि कहा जाय कि 'महापुरुषों से अस्वीकृत होने से उसका अप्रामाण्य है', तो वह भी ठीक नहीं। क्योंकि कौन महापुरुष है और कौन नहीं, इसका निर्णय ही कठिन हो जायगा। फिर यदि वैदिक कर्मों में ईश्वर को प्रेरक माना जायगा, वैसे ही लौकिक कर्मों में भी उसे प्रेरक मानना पड़ेगा। फिर लौकिक कर्मों में साधारण प्रेरक ईश्वर के होते हुए भी राजादि असाधारण प्रेरक होते हैं। तब तो वैदिक कर्मों में भी साधारण प्रेरक ईश्वर के रहने पर भी राजादितुल्य वेद को ही असाधारण प्रेरक मान लेना होगा। वेदपौरुषेयत्ववादी को यह मान लेना पड़ेगा कि राजादि की असाधारण प्रेरणा बिना ईश्वर की प्रेरणा लौकिक कार्यों में पुरुष को प्रवृत्त नहीं कराती, वैसे ही वेद की असाधारण प्रेरणा के बिना यज्ञादिरूप वैदिक कार्यों में भी ईश्वरप्रेरणा किसीकी प्रवृत्ति नहीं करा सकती। वेद की असाधारण प्रेरणा पूर्वोक्त शब्द-भावना ही है। ऐसी स्थिति में शाब्दी-भावना वेद माननेवालों के लिए गले पतित है। साथ ही यदि ईश्वरप्रेरणा मानी जाय, तो वैदिक कर्मों के सभी अधिकारी होंगे ही, कोई भी कदापि उनका उल्लंघन न कर सकेगा। जैसे, सन्ध्यादि वेदविहित कार्यों में ईश्वर की प्रेरणा से प्रवृत्ति होती है, वैसे ही ब्रह्महत्यारूप निषिद्ध कर्मों में ईश्वरप्रेरणा से निवृत्ति होगी। अथवा तो किसीकी भी उक्त कर्मों में प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार फिर निषिद्ध कर्म भी ईश्वरप्रेरित होने से विहित ही समझा जायगा। हम पीछे कह ही आये हैं—

"अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् श्वभ्रं वा स्वर्गमेव वा ॥"

अर्थात् अज्ञानी प्राणी अपने सुख, दुःख में पराधीन होता है, नरक को प्राप्त होता रहता है। अतः यही सिद्धान्त ठीक है कि राजा आदि के तुल्य अपनी प्रवर्तना का बोध कराता हुआ वेद भी पुरुषों में इच्छा उत्पन्न कर कर्मों में उनकी प्रवृत्ति कराता है। लोक, वेद दोनों में प्रवृत्ति कराने की व्यवस्था एक ही है। इस तरह इस पक्ष में किसी अलौकिक अर्थ की कल्पना नहीं करनी पड़ती।

पूर्वोत्तर मीमांसा, दोनों के अनुसार वेद अपौरुषेय एवं अनादि हैं। उत्तर मीमांसा में वेद ब्रह्म विवर्त है। दोनों मतों में प्रवृत्ति के अनुकूल व्यापार ही प्रवर्तना है। यदि प्रवर्तनात्व ही लिङादि पदों का शक्य है, तो प्रवर्तनात्व के आश्रयभूत प्रवर्तना-विशेषों की उपस्थिति उसी तरह होगी, जैसे गोत्व के गोपद-शक्य होने पर भी गोव्यक्तियों की उपस्थिति होती है। यही विधिरूप शब्द-भावना निवृत्ति का कारण (निवृत्ति करनेवाले में रहनेवाली निवर्तना) निवारणरूप शाब्दी-भावना होती है। जैसे "मैं इसे प्रवृत्त करता हूँ" इस तरह प्रवर्तक पुरुष के मानस प्रत्यक्ष के अनुसार प्रवर्तनारूपी शाब्दी-भावना सिद्ध है, उसी तरह "मैं इस पुरुष को इस कर्म से निवृत्त कराता हूँ" इस मानस प्रत्यक्ष से निवर्तक पुरुष की निवर्तनारूपी शाब्दी भावना भी सिद्ध है। जैसे प्रवर्तक पुरुष की अपेक्षा प्रवर्त्य पुरुष के हीन, समान और उत्तम— इस भाँति तीन भेद होते हैं, वैसे ही निवर्तक की अपेक्षा निवर्त्य में भी तीन भेद होते हैं। जैसे लोक में प्रवर्तनाएँ प्रवर्तक की इच्छा-विशेष हैं, अतएव चेतन के ही धर्म हैं, उसी तरह निवर्तनाएँ भी

चेतनधर्म ही है। वेद में निर्माता पुरुष न होने से लिङादि शब्दों में रहनेवाली चतुर्थी प्रवर्तना होती है। वैसे ही "न हिंस्यात्" इत्यादि निषेधों में रहनेवाली निवर्तना भी चौथे प्रकार की होती है। "न हिंस्यात्" के "यात्" इस लिङंश में ही निवर्तनारूप शाब्दी-भावना रहती है और उसीका अर्थ भी है। मारने से पुरुषों की निवृत्ति ही उस निवर्तना का भाव है। यदि "यात्" शब्द की शक्ति का ज्ञान ही निवर्तना है, तो शक्ति के सहित "यात्" शब्द का ज्ञान उसका कारण है। यदि शक्तिसहित "यात्" शब्द का ज्ञान ही निवर्तना है, तो उस शक्ति का ज्ञान ही निवर्तना है।

कहा जाता है कि 'निवृत्ति तो क्रिया के विरुद्ध होती है। जैसे प्रवृत्ति से क्रिया होती है, उसी तरह प्रवृत्ति के विरुद्ध निवृत्तिरूप यत्न से क्रिया का अभाव होता है। ऐसी अवस्था में "यात्" आदि आख्यातों का निवृत्ति अर्थ नहीं हो सकता। क्योंकि वह धात्वर्थ "हिंसा" आदि के प्रतिकूल ही है। आख्यात का अर्थ वही होता है, जो धात्वर्थ के अनुकूल हो। इस रीति से जब आख्यात से निवृत्ति उपस्थित नहीं होती, तब वह कैसे निवर्तना का भाव्य हो सकती है? निवृत्ति का बोध करानेवाली शक्ति यदि आख्यात में नहीं है, तो उसके सहित किस शब्द का ज्ञान निवर्तना का कारण होगा? इसके अतिरिक्त प्रवर्तना विधिरूप है, इससे वह लिङादि शब्द का अर्थ है—"विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाभीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्"—इस पाणिनीय सूत्र से विधि में लिङ् का विधान है, परन्तु निवर्तना में उसका विधान अप्राप्त है। अतः निवर्तनारूपी शाब्दी भावना कैसे संभव होगी?

परन्तु इसका समाधान यह है कि अनादि लोक-व्यवहार के अनुसार निवर्तना भी लिङादि शब्दों का अर्थ है। "न कूपे

पतेत्" (कूप में न पड़ें) इत्यादि वृद्धवाक्यों से प्रयोज्य पुरुषों की कूपपतन से निवृत्ति और प्रवर्तक वाक्य से "मैं कूपपतन से निवृत्त होता हूँ" इत्यादि व्यवहार से यह समझा जाता है कि प्रयोजक वृद्ध का निवर्तनारूप व्यापार नञ्युक्त लिङादि का वाच्य है। इस रीति से निवृत्तिरूप भाव्य भी लिङादि शब्द का अर्थ है। विधिभावना के समान ही निषेधभावना के भी सभी अंश प्रामाणिक हैं।

अन्य लोग उपर्युक्त शंका का समाधान इस प्रकार करते हैं कि निवर्तना नञ् का ही अर्थ है, किन्तु जहाँ नञ् के समीप लिङादि विधिशब्द रहते हैं—जैसे 'न हन्यात्, न पिबेत्'—वहीं निवृत्ति होती है। जहाँ लिङादि शब्द नहीं रहते, वहाँ "न" शब्द से पुरुषों की निवृत्ति नहीं होती। जैसे—"न पिबति" इत्यादि लट् के समीप होने से भी निवर्तना अर्थ नहीं होता। निवर्तना को लिङादि का अर्थ माननेवालों के समान ही भाव्य, करण आदि की उपपत्ति इस पक्ष में भी हो जायगी। प्रथम पक्ष में लिङ्, लोट्, तव्य, अनीयर् आदि शब्दों का निवर्तना अथ मानना पड़ता है। दूसरे में 'अ, मा, नो, न'—चार ही का अर्थ निवर्तना मानना होता है, अतः लाघव है।

अब अर्थवादों का किस प्रकार शाब्दी भावना की इति-कर्तव्यता कोटि में समावेश होता है—यह समझ लेना चाहिए।

इस तरह अध्ययनविधि से शाब्दी-भावना की कार्यता का ज्ञान होता है। "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" के अनुसार वेद लिङादि शब्दों की शक्ति से पुरुषों की प्रवृत्ति को तभी उत्पन्न कर सकते हैं, जब उसके विषय यागादि के गुणों का ज्ञान कराया जाय। अतः अध्ययनविधि से ही यह निश्चित हुआ कि यागादि की

प्रशंसा भी करनी चाहिए। किन शब्दों से प्रशंसा की जाय, ऐसी आशंका होने पर स्वाध्यायपदवाच्य वेद के अन्तर्गत अर्थवादों द्वारा प्रशंसा की जाय, यह निश्चय होता है। तथा च शाब्दी-भावना की इतिकर्तव्यतारूप से अर्थवादों का उपयोग होता है। तथा च सार यह निकलता है कि अर्थवादों से प्राशस्त्यबोध करा-कर लिङादि शब्द शक्तिज्ञान द्वारा पुरुष को प्रवृत्त करें। कहा जाता है कि 'यद्यपि अन्यान्य विधिवाक्यों का अध्ययनविधि से नियुक्त होकर पुरुषोपकार में प्रवृत्त होना युक्त है, परन्तु अध्ययनविधि का नियोजक कौन है? अपौरुषेय वेद में पुरुष तो नियोजक हो नहीं सकता। वह वाक्य ही स्वयं अपना नियोजक हो, यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अपने पर अपना नियोग नहीं होता, वह परस्पर भिन्न में होता है। कोई अन्य वैदिक वाक्य भी नहीं है, जो कि अध्ययनविधि को नियुक्त करे।

'ऐसी स्थिति में "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इत्याकारक वचन अध्ययनविधि के तव्य-शब्दार्थ भावना में कार्यता का ज्ञान किसी तरह भी नहीं हो सकेगा। फिर अध्ययनविधि किस तरह प्रवर्तक होगी? वेदाध्ययन की पुरुषार्थ-साधकता भी अध्ययन के ही बल से सिद्ध होती थी। क्योंकि जब अध्ययनविधि किसी-को नियोज्य ही नहीं है एवं अपनी शाब्दी-भावना में कार्यता का ज्ञान ही नहीं करा सकती, तब किस तरह केवल श्रम के लिए ही अध्ययन में प्रवृत्ति सम्पादित हो सकती है। फिर तो वेदों का प्रामाण्य ही व्याहत हो जायगा।'

इसका उत्तर यही है कि लिङादि शब्दों में लौकिक नियो-ज्यत्व से विलक्षण ही नियोज्यत्व है। स्वामी की प्रेरणा समझनेवाला लौकिक नियोज्य होता है, परन्तु वैदिक लिङादि

शब्द तो स्वयं अचेतन हैं, उन्हें अपनी प्रेरणा का ज्ञान असंभव है। किन्तु उनकी शक्ति के अनुसार ही अध्ययनविधि यह बतलाती है कि लिङादि शब्द यागादि कर्मों में पुरुष की प्रवृत्ति के लिए आग्रह करें। बोध कराने से ही पुरुष यह समझ लेता है कि यागादि कर्म अवश्य ही पुरुषार्थ के साधक हैं, अन्यथा वैदिक लिङादि उनके करने का आग्रह ही न करते। जैसे लौकिक नियोज्य को अपने आप से कर्म करने की इच्छा नहीं होती, किन्तु वह नियोजक का आदर करता है, उसके अनुसार ही कर्मों में इच्छा और प्रवृत्ति होती है। ठीक इसी तरह वैदिक लिङादि शब्द भी अध्ययनविधि का आदर करते हैं, अर्थात् उसके अनुसार बोध कराते हैं। इस दृष्टि से लिङादि भी नियोज्य कहे जाते हैं। जैसे पुरुष में औपचारिक भाव से सिंह पद का प्रयोग होता है, वैसे ही अचेतन लिङ् आदि शब्दों को भी नियोज्य कहा जाता है। इसीके अनुसार शाब्दी-भावना में कार्यता का ज्ञान होता है। अर्थवादवाक्य लक्षणा द्वारा विध्यर्थ के स्तावक होते हैं, इसलिए विधिवाक्यों के साथ अर्थवादों की एकवाक्यता भी होती है। अध्ययनविधि के नियोज्य सभी वैदिक लिङादि शब्द हैं, अतएव वह स्वयं भी नियोज्य है। यद्यपि लोक में एक ही नियोज्य और नियोजक नहीं हो सकता, तो भी अध्ययनविधि सब वेदों पर नियोग करती हुई अपने पर भी करेगी। अर्थात् सब वेदों के पढ़ने का विधान करती हुई, वेदों में स्वयं भी होने से, अपने भी अध्ययन का विधान करेगी ही। जैसे, 'सर्वं मिथ्या' यह वाक्य घट आदि सबको मिथ्या बतलाता हुआ अपने आप को भी मिथ्या बतलाता है, ठीक ऐसे ही अध्ययनविधि के नियोग के विषय में भी

समझना चाहिए। अतः अध्ययनविधि सब वेद की नियोजक होती हुई अपनी भी नियोजक है।

पूर्वमीमांसा के अनुसार अध्ययनविधि में दो रीतियाँ हैं, जिनसे शाब्दी-भावना की इतिकर्तव्यता में अर्थवादों का अन्तर्भाव होता है। पहली रीति यह है कि वैदिक लिङादि शब्द के अर्थ का यज्ञादि के साथ अन्वय (सम्बन्ध) होकर पश्चात् नियोज्य के साथ अन्वय होता है। इस पक्ष के अनुसार अध्ययनविधि का अर्थ करने की रीति यह है कि प्रथम तो वैदिक लिङादिरूप नियोज्य के साथ तव्यरूप विधिशब्द का अन्वय ही नहीं होता। अतः वैदिक लिङादि शब्दों के शाब्दी-भावना आदि व्यापारों का विशेष रूप से उस समय ज्ञान ही नहीं हो सकता। अतएव पहले अध्ययनविधि का सामान्य रूपसे 'भावयेत्' नियोग (कराये) अर्थ होता है। पश्चात् 'को भावयेत्' "किं भावयेत्" (कौन कराये, किससे कराये) यह जिज्ञासा होती है। तब वैदिक लिङादि करायें और पुरुष से करायें, इस रूप से जिज्ञासा शान्त होती है। तब भाव्य की आकांक्षा होती है—किं भावयेत्', तो उस दृष्ट शक्ति के अनुसार "यच्छक्यते तद्भावयेत्" (जो कार्य करा सके, वह कराये) इस प्रकार उस आकांक्षा की पूर्ति होती है। इस तरह अध्ययनविधि का पहले यही अर्थ होता है। इसके अनन्तर तव्यशब्द के अर्थ का वैदिक लिङादि रूप नियोज्य के साथ सम्बन्ध होता है। उसके अनुसार 'वैदिक लिङ क्या करा सकता है' इस तरह भाव्यविशेष की आकांक्षा उत्पन्न होती है। तब उसकी पूर्ति 'पुरुषप्रवृति कराये' इस तरह होती है। अन्त में अध्ययनविधि का यह अर्थ सम्पन्न होता है कि 'वैदिक लिङादि शब्द यज्ञादिरूप कर्मों में पुरुषों की

प्रवृत्ति करायें।' इस रीति में वेदों की अनर्थकता का परिहार निम्नलिखित ढंग से होता है—प्रवृत्ति प्रयोज्य पुरुष का व्यापार है। इसीसे वह शाब्दी भावना का फल है। अध्ययनविधि भी अन्य विधिवाक्यों द्वारा पुरुषों की प्रवृत्ति कराती है—'लिङादिः पुरुषेण प्रवृत्तिं भावयेत'। परन्तु पुरुषों की यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्ति तबतक नहीं होती, जबतक कि उसे कर्मों के पुरुषार्थ-साधक होने का निश्चय नहीं होता। अतः 'स्वर्गकामो यजेत' आदि वाक्य यज्ञादि के पुरुषार्थ-साधकत्व का ही निर्णय कराते हैं।

दूसरी रीति यह है कि लौकिक लिङादि अर्थ का नियोज्य के साथ सम्बन्ध होकर यज्ञादि विषयों से सम्बन्ध होता है। लौकिक लिङादि का प्रवर्तनरूप व्यापार-विशेष में पहले से ही शक्तिग्रह होता है। अध्ययनविधि के द्वारा वही विधेय होती है। अतः पहले से ही 'प्रवर्तयेत्' (प्रवृत्ति करायें) इस प्रकार का अर्थ होता है और लिङादि प्रवृत्ति करायें, इस प्रकार का लिङादि के प्रयोजक कर्तृत्व का निश्चय होता है। पश्चात् किसकी प्रवृत्ति करायें, इस प्रकार प्रयोज्यकर्त्ता की अपेक्षा होती है। परन्तु उसकी 'लिङादिः पुरुषं प्रवर्तयेत्' (लिङादि पुरुष की प्रवृत्ति करायें) इस प्रकार पूर्ति होती है। दोनों ही रीतियों में वैदिक लिङादि को प्रयोजक कर्ता माना जाता है तथा प्रयोज्य कर्त्ता पुरुष की प्रवृत्ति वैदिक लिङादि शब्द के प्रवर्तनारूप व्यापार का फल होता है। यद्यपि वैदिक लिङादि अचेतन हैं, अतः उनमें प्रयोजक-कर्तृत्व नहीं बन सकता। तथापि इसकी उपपत्ति इस तरह होती है—"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" यह अध्ययनविधि वैदिक लिङादि शब्दों के अध्ययन में पुरुषों को नियुक्त करती है। नियुक्त पुरुष यह जानना चाहता है कि 'वैदिक लिङादि मेरा क्या उपकार करेंगे ?' पश्चात् लिङादि शब्दों की शक्ति का विचारकर यह

निश्चय करता है कि प्रवर्तना रूप शाब्दी-भावना के बोध द्वारा लिङादि शब्द पुरुषार्थ-सार्थक कर्मों का बोध कराकर पुरुष के उपकारक होते हैं। परन्तु इतने से भी पुरुषों की प्रवृत्ति नहीं होती है। क्योंकि यज्ञों में श्रम और व्यय का बाहुल्य होने से पुरुष-प्रवृत्ति शिथिल हो जाती है। उसी समय अध्ययनविधि के अनुसार यह निश्चय करता है कि ये वैदिक लिङादि शब्द यज्ञादि कर्मों में मेरी प्रवृत्ति का ज्ञान ही कराते हैं उन्हीं से प्रेरणा पाकर वह उसमें प्रवृत्त होता है। अतः लिङादि में प्रयोजक कर्तृत्व आ जाता है।

अर्थवादों का प्रामाण्य : ५ :

अनादि काल से यह व्यवहार प्रचलित है कि वैदिक लिङादि शब्द "यज्ञविधान के प्रयोजक हैं, फिर भी 'वैदिक लिङादि पुरुष को प्रवृत्त करें' इस अध्ययनविधि के अर्थ की तबतक पूर्ति नहीं होती, जबतक कि 'किसके द्वारा' इस करणाकाङ्क्षा की पूर्ति नहीं होती। अवश्य ही लिङादि शब्दों की शक्तिके अनुसार 'प्रेरणा-ज्ञान' द्वारा, इस अर्थ से उसकी पूर्ति होती है। फिर भी 'प्रेरणा-ज्ञान के द्वारा किस प्रकार से प्रवृत्ति करे' ऐसी इतिकर्तव्यता की आकाङ्क्षा बनी ही रहती है। अतः उसकी पूर्ति के लिए "याग से स्वर्गसुख लाभ करे" इस पूर्वोक्त आर्थीभावना की अर्थवादों से प्रशंसाकर प्रवृत्ति करें। इस प्रकार अध्ययन-विधि का सारांश यह निकलता है कि लिङादि शब्द प्रेरणा के ज्ञान और अर्थवाद से आर्थीभावना की प्रशंसा द्वारा यज्ञादि कर्मों में पुरुष की प्रवृत्ति करायें। वैदिक लिङादि शब्द पुरुष को प्रेरणामात्र का ज्ञान कराकर उसकी प्रवृत्ति नहीं करा सकते, क्योंकि प्रेरणा का ज्ञान होने पर भी इच्छा के बिना कर्म करने

में पुरुष की प्रवृत्ति नहीं होती। प्रेरणाज्ञान से इच्छा होने पर ही प्रवृत्ति सम्भव है। किन्तु वैदिक कर्मों में बहुत परिश्रम और व्यय देखकर आलस्य और लोभ के कारण यज्ञादि कर्मों से द्वेष भी हो सकता है, जो निवृत्ति का कारण और प्रवृत्ति का बाधक है। उस द्वेष से वैदिक विधिशब्द से उत्पन्न इच्छा दबकर पुरुषप्रवृत्ति में विघ्न भी उत्पन्न हो सकता है। लोक में भी लाभप्रद, किन्तु व्यय-श्रमसाध्य व्यापारों में उत्पन्न हुई इच्छा लोभ, आलस्य एवं द्वेष से दब ही जाती है। अतः वैदिक लिङादि शब्द पूर्वोक्त द्वेष को मिटानेवाले की अपेक्षा अवश्य करते हैं। यदि पुरुष की प्रवृत्ति न हो तो विधिवाक्य ही स्वयं व्यर्थ हो सकते हैं। उस द्वेष को मिटाने के लिए यज्ञादि-भावना की प्रशंसा से अतिरिक्त और कोई भी उपाय नहीं।

अतएव जैसे लोक में भी 'यह गाय बहुत दूध देती है' आदि प्रशंसा बहुवित्तसाध्य गौ के खरीदने में उपयुक्त होती है, वैसे ही अर्थवाद भी प्रशंसा द्वारा पुरुष का उक्त द्वेष मिटाकर यज्ञादि कर्मों में उसकी प्रवृत्ति करा देते हैं। जैसे, लौकिक प्रशंसा-वाक्यों में द्वेष मिटाकर इच्छा उत्पन्नकर प्रवृत्ति कराने की सामर्थ्य है, वैसे ही वह अर्थवादों में भी है। अतः अर्थवादों में प्रवृत्ति कराने की सहकारिणी शक्ति सिद्ध है। प्रशंसा का स्वरूप ही ऐसा है कि वह अपने प्रशंसनीय पदार्थ से द्वेष को मिटा देता है।

अर्थवादों का इष्टफलसाधनतारूप प्रशंसा-अर्थ विवक्षित नहीं, क्योंकि "यागेन स्वर्गं भावयेत्" (याग से स्वर्गसुख प्राप्त करें) इस आर्थी भावना द्वारा लिङादि शब्द से ही वह सिद्ध है। अन्य भी कोई अर्थ यहाँ विवक्षित नहीं, क्योंकि उसका

प्रवृत्ति में उपयोग नहीं है। किन्तु बलवान् अनिष्ट का कारण न होना भी प्रवृत्ति में आवश्यक है। "यागेन स्वर्गं भावयेत्" इस आर्थीभावना से यद्यपि इष्टसाधनता का ज्ञान होता है, तथापि उतने से ही बलवदनिष्टाननुबन्धित्व (प्रबल अनिष्ट का साधन न होना) निश्चित नहीं होता। क्योंकि तृप्ति आदि इष्ट का हेतु होने पर भी कलञ्ज-भक्षण (जहरीले बाणों से मारे हुए मृग का मांस खाना) पापादि अनिष्ट का भी साधन होता है। यही स्थिति विषमिश्रित अन्न की भी है। वह तृप्ति का हेतु होने पर भी मरणरूप बलवान् अनिष्ट का अनुबन्धी (कारण) है। ऐसे ही वेदविहित श्येनयाग से शत्रुमरणजन्य सुख होता है और उसका स्वरूप किसी प्रबल अनिष्ट का साधन नहीं। फिर भी श्येनयाग का फल शत्रुहिंसा "न हिंस्यात्" से निषिद्ध होने के कारण प्रबल दुःख का कारण है। इस तरह उपर्युक्त उदाहरणों में इष्टसाधनता होने पर भी बलवदनिष्टाननुबन्धित्व नहीं है। अर्थात् इष्टसाधन होते हुए भी वे बलवान् अनिष्ट के साधन हैं।

अतएव मीमांसा के आचार्यों ने कहा है :—

"फलतोऽपि च यत्कर्म नानर्थेनानुबध्यते।
केवलं प्रीतिहेतुत्वात् तद्धर्म इति कथ्यते॥"

अर्थात् जिस कर्म का फल भी दुःखदायी न हो, जो अपने स्वरूप और फल से केवल सुखदायक ही हो, वही धर्म कहलाता है। लाभ की अपेक्षा श्येनयाग के फल द्वारा हानि अधिक है। इससे श्येनयाग भी धर्म नहीं है। अतएव विवेकियों की उसमें प्रवृत्ति नहीं होती। जिसे फलकृत हानि स्वीकारकर शत्रुवध का लाभ उठाना है, उसीके लिए श्येनयाग का विधान है। विधान का यह अर्थ नहीं कि हर किसीको वह करना चाहिए।

सारांश, वैदिक लिङादि शब्द यद्यपि अपनी प्रवर्तना के ज्ञान से ही यागादि में सुखसाधनता बतलाकर इच्छा उत्पन्न कर सकते हैं, तथापि अर्थवादों के बिना विषमिश्रित मिष्टान्न भोजन या श्येनयाग के समान अनिष्टहेतुत्व की सम्भावना से उत्पन्न द्वेष से इच्छा दब सकती है। फिर तो विधिशक्ति का शिथिल हो जाना स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में अर्थवाद ही प्रशंसा द्वारा यह बतलाते हैं कि इन यागों के स्वरूप तथा फल सभी सुख के साधक हैं। इनमें किसीके भी प्रबल अनिष्ट-हेतु होने की सम्भावना नहीं है। यागादि स्वतः या फलतः अनर्थ का कारण नहीं। इस तरह बोध कराने से ही अर्थवाद विधि-शक्ति का उत्तम्भन करते हैं, जिससे पुरुषों की यज्ञादि में प्रवृत्ति हो जाती है। इस तरह प्रशंसारूप अपने लक्ष्यार्थ द्वारा सभी अर्थवाद शाब्दी-भावना की इतिकर्त्तव्यता में अन्तर्भूत हो विधिवाक्यों के अङ्ग होकर प्रमाण होते हैं। अर्थवादों के बिना प्रवृत्ति में विघ्न पड़ने के कारण विधिवाक्य अकिञ्चित्कर हो सकते हैं।

कुछ लोग सन्देह करते हैं कि 'यदि द्वेषनाश के लिए अर्थ-वादों से प्रशंसा अपेक्षित है, तब तो स्वर्गादि फलों की भी प्रशंसा आवश्यक होगी। ऐसी स्थिति में स्वर्गादि फलबोधक वाक्यों का भी प्रशंसा में ही तात्पर्य समझा जायगा। फिर स्वर्गादि के तात्त्विक होने में कुछ भी प्रमाण न रह जायगा।' इसका समाधान यही है कि अङ्ग एवं प्रधानरूप यज्ञादि कर्मों में ही विधि की प्रेरणा होती है। इसीलिए अध्ययनविधि उन कर्मों की प्रशंसा में-कार्यता का ज्ञान कराती है ही क्योंकि वही श्रम एवं व्यय से साध्य होने के कारण स्वतःपुरुषार्थरूप नहीं हैं, इसीलिए बिना प्रेरणा के उनमें प्रवृत्ति सम्भव नहीं। किन्तु

स्वर्गादि फल तो स्वयं पुरुषार्थरूप हैं, अतः स्वर्गादि की प्रशंसा के बिना भी केवल उनके स्वरूप ज्ञान से ही पुरुषों की यागादि कर्मों में इच्छा और प्रवृत्ति हो सकती है। इसीलिए अध्ययन-विधि फल की प्रशंसा में कार्यता का ज्ञान नहीं कराती। अतएव स्वर्गादिस्वरूप-बोधक वाक्यों का मुख्य तात्पर्य फलबोध में ही है। अतएव स्वर्गादि का अस्तित्व निश्चित होता है। आर्थी-भावना के यागादि रूप कारणांश एवं अवघातादि इतिकर्त्तव्य-तांश में ही प्रशंसा अपेक्षित है। स्वर्गादि फलरूप साध्यांश में प्रशंसा की आवश्यकता नहीं है।

फिर भी कुछ लोग कहते हैं कि 'यदि प्रशंसा आवश्यक है, तो स्वर्गादि फलबोधक वाक्यों से ही यागादि की प्रशंसा की जा सकती है, पृथक् अर्थवादों की क्या आवश्यकता है।' किन्तु यहाँ यह प्रश्न होगा कि क्या फलवाचक स्वर्गादि शब्दों से ही प्रशंसा की जाय या 'स्वर्गकामो यजेत' (स्वर्ग की कामनावाला यज्ञ करे) आदि विधिवाक्यों से? यदि अन्तिम पक्ष मान्य हो, तब भी वे किस तरह प्रशंसा करेंगे? क्या याग निर्दोष वेद से विहित होने के कारण प्रशस्त है या द्रव्य-देवता, इति-कर्त्तव्यता आदि अङ्गों के प्रशस्त होने से प्रशस्त है? दोनों ही पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि साध्य, साधन और इतिकर्त्तव्यता का बोध कराकर कृतकृत्य वाक्य प्रशंसाबोधन में प्रवृत्त न होंगे। 'केवल स्वर्गादि पद ही अर्थवादों के समान स्वार्थ को छोड़कर लक्षणा द्वारा प्रशंसा का बोध करायेंगे' यह प्रथम पक्ष भी उचित नहीं। क्योंकि जब फलरूप अपने अर्थ का बोध कराकर स्वर्गादि शब्द चरितार्थ हो जाते हैं, तो फिर उनमें वाच्यार्थ-त्याग कर लक्षणा क्यों होगी? इसके अतिरिक्त यदि पहले से ही वाच्यार्थ को छोड़कर स्वर्गादिपद प्रशंसा ही बोध करायेंगे, तो स्वर्गादि

फलों का बोध न होने से पुरुषों की यज्ञादि में प्रवृत्ति ही न होगी। वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ दोनों अर्थों का बोध एक ही बार के उच्चारण से नहीं हो सकता। अतः यह भी नहीं कह सकते कि दोनों अर्थों का बोध हो जायगा।

इसपर कहा जाता है कि 'स्वर्गादि पदों का फल में तात्पर्य न होने पर भी शब्दशक्ति के अनुसार उनसे फलों का बोध और प्रवृत्ति हो ही जायगी। ऐसी स्थिति में स्वर्गादि शब्दों का प्रशंसारूप लक्ष्यार्थ मानने में क्या हानि है?' किन्तु वेद इस बात पर ध्यान नहीं देते। जब विधि-वाक्यों में स्वर्गादि पद से अन्य कोई पद फल का बोधक है ही नहीं, तब स्वर्गादि शब्द ही उसका बोधक और फलबोध में ही उसका तात्पय क्यों न माना जाय, प्रशंसारूप लक्ष्यार्थ में तात्पर्य क्यों हो?

फिर भी कहा जाता है कि "यागादि कर्म प्रशस्त हैं, क्योंकि उनके स्वर्गादि फल हैं, इत्यादि अनुमान से ही प्रशंसा निकल सकती है।" किन्तु इस आनुमानिक अर्थ में विधिवाक्यों का अर्थ नहीं हो सकता। तात्पर्य के बिना वह शाब्द नहीं हो सकता। आनुमानिक आर्थिक अर्थशास्त्र का अर्थ नहीं कहा जा सकता, जिससे फल के निश्चय द्वारा पुरुष की प्रवृत्ति हो सके।

जैसे 'पूर्वो धावति' (पहला दौड़ता है) यह कहने से दूसरे के होने का ज्ञान होता है, किन्तु दौड़ने में दूसरे के सम्बन्ध का बोध इस वाक्य से नहीं होता; वैसे ही विधिवाक्यों से भी आर्थिक अर्थ का आर्थीभावना में सम्बन्ध कदापि ज्ञात नहीं हो सकता। कहा जाता है कि 'जैसे "प्रतितिष्ठन्ति ह वा य एता रात्रि-रुपयन्ति" (जो इस रात्रि-सत्र यज्ञ को करते हैं, वे अवश्य प्रतिष्ठा पाते हैं) ऐसे अर्थवाद वाक्यों से यज्ञ की प्रशंसा और

फल का निश्चय भी होता है—यह मीमांसकों को मान्य है। अतएव इसी अर्थवाद से "प्रतिष्ठाकामा रात्रिसत्रं कुर्वीरन्" (प्रतिष्ठा चाहनेवाले लोग रात्रिसत्र करें) ऐसी विधि की भी कल्पना होती है। एवञ्च इस अर्थवाद से जैसे फलबोध और प्रशंसारूप अर्थ दोनों अवगत होते हैं, वैसे ही "स्वर्गकामः" आदि पदों से भी फलबोध और यज्ञ की प्रशंसा दोनों हो, तो क्या हानि है ?' किन्तु जरा-सा ध्यान देने पर दृष्टान्त और दार्ष्टान्त की विषमता स्पष्ट हो जायगी है। 'प्रतितिष्ठन्ति' इस अर्थवाद-वाक्य से प्रतिष्ठारूप फलबोध के बिना विधि की कल्पना ही नहीं हो सकती। फिर विधिकल्पना के बिना अर्थवाद किस वाक्य से विहित 'रात्रिसत्र' की स्तुति करेगा ? ऐसी स्थिति में यह अर्थवाद व्यर्थ ही हो जाता। अतः उक्त अर्थवाद की अव्यर्थता के लिए अगत्या प्रशंसा और फल के बोध में उसकी शक्ति माननी पड़ती है। किन्तु 'स्वर्गकामः' आदि पदों में ऐसी कोई स्थिति नहीं है।

इसके सिवा उपर्युक्त अर्थवाद से वाक्य की ही कल्पना होती है। वे ही प्रत्यक्ष वेदवाक्यों के समान अपने अर्थों का बोध कराते हैं। किन्तु 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' इत्यादि वाक्यों में तो भूति आदि पदों से फलस्वरूप का 'बोध होता है।' प्रशंसा का बोध तो 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता...' (वायु शीघ्रगामी देवता है। वह शीघ्र ही उसे ऐश्वर्य्य देती है, जो उसके भागधेय श्वेत पशु से उसका आराधन करते हैं) इस अर्थवाद से होता है। इस तरह जब दोनों ही कार्य प्रत्यक्ष पठित विधि और अर्थवाद से हो सकता है, तब 'भूति' आदि शब्दों से आर्थिकरीत्या प्रशंसा-रूप अर्थ निकालने का क्लेश क्यों उठाया जाय ?

यदि 'भूति' आदि शब्दों से किसी वाक्य की कल्पना न कर प्रशंसा-अर्थ ही निकालना है, तो उस पक्ष में भी 'पूर्वो धावति' के समान आर्थिक अर्थ का आर्थीभावना से सम्बन्ध न होगा। यदि कहा जाय कि 'भूति', 'स्वर्ग आदि शब्दों से प्रशंसा-वाक्य की कल्पना कर ली जायगी', तो वह भी ठीक नहीं। क्योंकि प्रत्यक्ष प्रशंसा-वाक्य न होने पर ही कल्पना आवश्यक होती है। जब अर्थवाद विद्यमान ही हैं, तब कल्पना की निरर्थकता स्पष्ट ही है। प्रसिद्ध का त्यागकर अप्रसिद्ध की कल्पना अन्याय्य भी है। अर्थवादों का भी वाच्यार्थ प्रशंसा नहीं है, तथापि लक्षणा से प्रशंसा अर्थ निकलता ही है। 'भूति' आदि शब्दों से तो वायव्य-याग प्रशस्त है। इसी तरह प्रशंसाबोधक वाक्य की कल्पना करनी पड़ेगी। यहाँ प्रत्यक्ष अर्थवाद विद्यमान रहने के कारण इससे 'रात्रिसत्र' की तुल्यता भी नहीं है, जिससे उसी न्याय से वाक्य की कल्पना की जा सके।

इस तरह स्पष्ट है कि श्रम और व्यय के कारण कर्मों में द्वेष उत्पन्न हो जाता है, जिससे विधिवाक्य से प्रवर्तनाज्ञान द्वारा उत्पन्न हुई इच्छा भी शिथिल हो जाती है। इसलिए विधि-वाक्य पुरुषप्रवृत्ति के लिए अर्थवाद का मुँह ताकते रहते हैं। उधर अर्थवादों को भी अपनी सफलता के लिए विधि का मुखा-पेक्षी होना पड़ता है। इन्हीं परस्पर आकांक्षाओं को देख अध्य-यनविधि यह बतलाती है कि उक्त अर्थवादवाक्य लक्षणावृत्ति से प्रशंसा का बोध कराकर, उसके द्वारा उक्त विधि-वाक्यों से मिलकर पुरुषप्रवृत्ति के सम्पादन द्वारा स्वर्गादिरूप पुरुषार्थ-लाभ में सफल होते हैं। अतएव अदृष्टार्थक पाठ में अर्थवादों का उप-योग है, यह कथन भी असंगत है। कारण लिङादि विधिबोधक प्रत्यय न होने से अर्थवाद विधायक नहीं होते। यदि वहाँ विधि-

वाक्यों की कल्पना करेंगे, तो भी प्रवृत्ति के लिए प्रशंसा की आवश्यकता रहेगी ही। यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'अर्थ-वाद से ही विधिकल्पना और लक्षणा से प्रशंसा का बोध कराया जायगा, क्योंकि जब अर्थवादवाक्य अपने वाच्यार्थ द्वारा विधि की कल्पना करा चुके, तो उनकी सामर्थ्य का व्यय हो चुका। फिर वे किस सामर्थ्य से प्रशंसा का बोध करायेंगे? कथञ्चित् यह मान भी लिया जाय, तो भी अन्ततः वादी को जब अर्थवादों की लक्षणा करनी ही है, तो पहले ही उन्हींसे प्रसंशा का बोध क्यों न माना जाय और प्रत्यक्ष श्रुत विधिवाक्यों के साथ उनकी एकवाक्यता ही क्यों न हो और नवीन विधिवाक्य की कल्पना क्यों की जाय?

कहा जाता है कि 'अर्थवादों का आर्थीभावना रूप साक्षात् ही अर्थ क्यों न मान लिया जाय?' किन्तु "तैर्यच्छक्यते तत्कर्त-व्यम्" इस उक्ति के अनुसार लौकिक शक्ति से जो किया जा सके, वही करना चाहिए। लिङादि विधिशब्द अर्थवादों में नहीं हैं, अतः उनमें आर्थीभावना का बोध कराने की शक्ति नहीं है। कहा जाता है कि जैसे "वसन्ताय कपिञ्जलानालमेत" (वसन्त देवता के प्रीत्यर्थ कपिञ्जल नामक पक्षिविशेष से होम करना चाहिए) इस विधिवाक्य में विधान करने और प्रशंसा करने की शक्ति मानी जाती है, वैसे ही "वायव्यं श्वेत-नालमेत भूतिकामः" इत्यादि विधियों में भी विधान और प्रशंसा क्यों न मानी जाय? ऐसी स्थिति दोनों शक्तियों में अर्थवादों का क्या प्रयोजन रह जाता है?' किन्तु इसका उत्तर यही है कि इस विधि के समीप में कोई अर्थवाद पठित नहीं है, इसलिए अगत्या उसमें प्रशंसा करने की भी शक्ति माननी पड़ती है।

यह भी शंका होती है कि 'यदि विधिशक्ति न रहने से

अर्थवाद आर्थीभावना का बोध नहीं करा सकते, तो अक्षरों के अर्थ का ही बोध करायेंगे। फिर भी उनका प्रशंसा अर्थ क्यों माना जाय?' किन्तु इसका समाधान यह है कि यदि अर्थवाद अपने अक्षरों के अनुसार सिद्ध अर्थ का ही प्रतिपादन करेंगे, तो उससे पुरुषों की प्रवृत्ति में कुछ भी उपकार नहीं होगा। इसी कारण जिससे पुरुषों की प्रवृत्ति हो सके, ऐसे अर्थ का बोध कराकर अर्थवाद अपनी सफलता सम्पादन कर सकते हैं। पुरुषार्थरूपी अर्थ के बोधन से ही सफलता सम्भव है। अक्षर तो परिश्रममात्र देनेवाला है। इस दृष्टि से अर्थवाद अनन्यगति होकर पुरुषों की प्रवृत्ति के लिए प्रशंसा-बोधन द्वारा अपनी सफलता सम्पादन करता है। विधिवाक्यों को भी यागादि की प्रशंसा ही अपेक्षित होती है। इस तरह 'नष्टा-श्वदग्ध-रथ' न्याय से विधि और अर्थवाद दोनों एकवाक्यता-पन्न होकर (मिलकर) परस्पर की आकाङ्क्षाएँ पूर्ण करते हैं। अर्थवाद की पुरुषार्थरूपी प्रयोजन की आकांक्षा को विधि-वाक्य और विधिवाक्यों की शाब्दीभावना की इतिकर्तव्य-तांशरूप प्रशंसा की आकांक्षा को अर्थवाद पूर्ण करते हैं। इसीलिए विधि और अर्थवाद मिलकर एक वाक्य बनते हैं। अकेले दोनों ही अपूर्ण रहते हैं। अतएव जहाँ विधि ही है, अर्थवाद नहीं, वहाँ अर्थवाद की कल्पना करनी चाहिए। जैसे—"वसन्ताय कपिञ्जलानालभेत" इसी विधि में अर्थवाद की कल्पना होती है। जहाँ विधि नहीं, वहाँ अर्थवाद से ही

विधि की कल्पना होती है। जैसे—'प्रतितिष्ठन्ति' इत्यादि। यह सारा अर्थ अध्ययनविधि से ही निकलता है।

इसी तरह निन्दार्थक अर्थवादों की निषेधों के साथ एकवाक्यता होती है। जैसे "यो बर्हिषि रजतं दद्यात् पुराऽस्य संवत्सराद् गृहे रोदनं भवति" (जो बर्हियागमें रजत-दक्षिणा देना है, उसके गृह में वर्ष के भीतर रोदन होता है) इस अर्थवाद का "तस्माद् बर्हिषि रजतं न देयम्" (उक्त भय से बर्हियाग में चाँदी की दक्षिणा न दें) इस निषेध के साथ परस्पराकाङ्क्षा से एकवाक्यता होती है। जैसे प्रवृत्ति में यज्ञादि की प्रशंसा अपेक्षित होती है, वैसे ही निवृत्ति के लिए निषेध की निन्दा भी अपेक्षित होती है। यद्यपि निषेधकी महिमा से ही निषेध्य की प्रबल दुःखहेतुता का ज्ञान और उससे द्वेष एवं निवृत्ति हो सकती थी। फिर भी जैसे परस्त्री-गमन वेदों द्वारा प्रबल दुःखकारक रूप से विहित होने पर भी तत्काल सुखजनक होने से उससे द्वेष मिट जाता है तथा उसमें इच्छा और प्रवृत्ति हो जाती है, वैसे ही कीर्ति आदि दृष्टफलों के लोभ से उत्पन्न इच्छा और उत्साह से रजतदान से द्वेष और निवृत्ति मिटकर प्रवृत्ति हो सकती है। अतएव उस प्रवृत्ति के निवारणार्थ तथा इच्छा मिटाने और द्वेष उत्पन्न करने के लिए निन्दार्थवाद से अतिप्रबल दुःख दिखलाकर रजतदान की निन्दा की जाती है। विधियुक्त नञ् शब्द से निकली हुई निवारण-रूपी शाब्दीभावना के निषेधज्ञानात्मक करणांश में अन्तर्गत

होकर निन्दार्थवाद निषेध की निवर्त्तक शक्ति का उत्तम्भन करता है।

इस तरह अर्थवादों का मुख्य तात्पर्य स्तुति या निन्दा में ही है। उनके द्वारभूत अर्थ अमुख्य ही हैं। यही बात "विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः" इस सूत्र से कही गयी है। विधियों के साथ परस्पराकांक्षामूलक एकवाक्यता के बिना अर्थवादों की निन्दा या स्तुति में लक्षण नहीं हो सकती, क्योंकि उनका मुख्यार्थ बाधित नहीं है। अतएव दोनों की एकवाक्यता आवश्यक है।

फिर किसका निन्दा अर्थ है और किसका स्तुति, इसका निर्णय भी एकवाक्यता के बिना संभव नहीं है। कोई अर्थवाद विधेय से भिन्न की निन्दा द्वारा विधेय की स्तुति करते हैं, तो कोई विधेय की निन्दा और तद्भिन्न की प्रशंसा करते हुए-से प्रतीत होते हुए भी वस्तुतः विधेय के प्रशंसक ही होते हैं। कुछ अर्थवादों में प्रशंसा या निन्दा का सन्देह ही बना रहता है। किन्तु यदि एकवाक्यता से अर्थवादों को विधि-निषेध का शेष (अंग) मान लिया जाय, तो यह निर्णय सरलता से हो जाता है। जैसे—"प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति पुरोदयाज्जुह्वति येऽग्निहोत्रम्।" अर्थात् सूर्योदय के पहले जो अग्निहोत्र करते हैं, वे प्रातःकाल झूठ बोलते हैं, क्योंकि उस समय सूर्य ज्योति है ही नहीं। फिर "सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः स्वाहा" इस मन्त्र से होम कैसे? इस तरह यद्यपि यह

अर्थवाद अनुदित होम की निन्दा करता हुआ प्रतीत होता है, तथापि वैसा नहीं है; क्योंकि यह "तस्मादुदिते होतव्यम्" अर्थात् 'उदित होने पर होम करे' इस विधि का शेष है। अतः उसीके साथ इसकी एकवाक्यता होने पर उदित होम की प्रशंसा ही इसका अर्थ निकलता है, अनुदित पक्ष की निन्दा नहीं। यदि अनुदित पक्ष की निन्दा ही अभीष्ट होती, तो उदित होमविधि के पास इसका पाठ न होता। साथ ही अनुदित-होमविधि से इस अर्थवाद का विरोध भी अनिवार्य हो जाता। अतएव उदित, अनुदित किसी काल के होम का निषेध नहीं है, किन्तु किसी पक्ष का भी नियम किया जा सकता है। इन स्थलों में स्वतन्त्र निन्दा-वाक्यों से प्रशंसा-अर्थ कभी नहीं निकल पाता। अतः उदित-होमविधि के साथ एकवाक्यता कर निन्दारूप अर्थ को हटाते हुए ही लक्षणा से उदित-होम की प्रशंसा रूप अर्थ करना पड़ता है—"नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्त्तते किं तर्हि निन्दितादितरत्प्रशंसितुम्।' अन्यथा जिस अनुदित-होम का विधान है, उसी की निन्दा क्यों? अनुदित-होम की निन्दा का उदित होम के विधान के साथ परस्पर क्या सम्बन्ध है? उदित होम के समीप अनुदित होम के निन्दा-वाक्य का पाठ क्यों?, ये सभी शंकाएँ बनी ही रहेंगी। इन्हीं सब शंकाओं को दूर करने के लिए विधि के समीप पढ़े गये अर्थवादों की उसके साथ एकवाक्यता सम्पादन करने का प्रयत्न किया जाता है।

इसी तरह त्र्यम्बक देवतासम्बन्धी पुरोडाशों के प्रसङ्ग में कहा गया है—"अभिघार्य्या नाभिघार्य्या इति मीमांसन्ते यदभिघारयेत्

रुद्रायास्ये पशून्निदध्यात्, यन्नाभिघारयेन्न रुद्रास्ये पशून्निदध्यात्, अथो खल्वाहुः, अभिघार्य्या एव नहि हविरनभिघृतमस्ति।" अर्थात् यह विचार किया जाता है कि 'इन पुरोडाशों का अभिघारण (अग्नि पर उष्णकर घी से तर करना) किया जाय या नहीं? जो अभिघारण करता है, वह मानो रुद्र के मुख में अपने पशुओं को डालता है। जो अभिघारण नहीं करता, मानो वह नहीं डालता।' इसके अनन्तर कहा जाता है कि 'अवश्य अभिघारण करना चाहिये, क्योंकि अभिघारण के विना हवि ही नहीं होता।' इस अर्थवाद में सन्देह होता है कि यह अभिघारण का विधान है, या निषेध? पूर्वपक्षी कहता है कि "अभिघारण करना मानो रुद्रमुख में अपने पशुओं को देना है' इससे निषेधार्थ तथा 'अभिघारण के बिना हवि नहीं होता' इस अंश में विधानार्थ प्रतीत होता है। अतः जैसे "अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति" इन विधानों एवं निषेधों से 'षोडशी-पात्रविशेषों का ग्रहण-अग्रहण दोनों ही यज्ञकर्त्ता की इच्छा पर निर्भर है, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए।' किन्तु सिद्धान्त के अनुसार यह निश्चय होता है कि "अभिघार्य्या एव' इस विधिवाक्य से एकवाक्यता होने पर यह अर्थवाद अभिघार की प्रशंसा में ही पर्यवसित है। अतएव अभिघार करने के दोष एवं न करने के गुणों को चिन्ता न करके "अभिघार्य्या एव" अभिघारण ही करना चाहिए। यहाँ भी "अभिघार्य्या" इस विधिवाक्य की एकवाक्यता से ही अभिघारण का निन्दारूप प्रत्यक्ष अर्थ

छोड़कर प्रशंसा में तात्पर्य निर्णीत होता है।

"यदृचा स्तुवते तदसुरा अन्यवायन् यत्साम्ना स्तुवते
तदसुरा नान्ववायन् य एवं विद्वान् साम्ना स्तुवीत।"

अर्थात् जो ऋक्मन्त्र से स्तुति करता है, उस स्तुति के पीछे असुर आ जाते हैं, साममन्त्र से की हुई स्तुति का अनुगमन असुर नहीं करते, ऐसा समझकर विद्वान् साम से स्तुति करता है। यहाँ सन्देह होता है कि "ऋचा स्तुवते" यह वाक्य ऋक् मन्त्र से स्तुति करने का विधान करता है या "साम्ना स्तुवीत" इस वाक्य से विधान की हुई सामस्तुति की प्रशंसामात्र करता है? पूर्वपक्ष होता है कि 'यद्यपि लिङादि विधिप्रत्यय नहीं, तथापि यह वाक्य विधायक ही है; क्योंकि उक्त विषय-वाक्य में यदि साम-स्तुति का विधान होता, तो उस सामस्तुति की प्रशंसा "ऋचा स्तुवते" इस वाक्य से हो सकती थी। "साम्ना स्तुवीत" वाक्य विधायक नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें "य एव विद्वान् साम्ना स्तुवीत" यहाँ 'यः' शब्द का योग है। वह आप से आप होने-वाली पुरुष की प्रवृत्ति का अनुवादमात्र करता है। जैसे—'य एवं विद्वान् पौर्णमासी यजते' यह वाक्य केवल अनुवादमात्र करता है, विधान नहीं; वैसे अन्यत्र भी समझना चाहिए। जिस वाक्य में "यद्" शब्द का प्रयोग होता है, उस वाक्य के लिङादि शब्दों की विधानशक्ति नष्ट हो जाती है। ऐसी स्थिति में 'ऋचा स्तुवते' से उसकी प्रशंसा नहीं, किन्तु विधान ही होता है। यद्यपि 'यदृचा स्तुवते' इस वाक्य में भी 'यद्' शब्द लगा है, तथापि वह

याग का अनुवादक है, अतएव उसकी विधानशक्ति नष्ट नहीं होती। अथवा दो विधायक वाक्यों के बल पर ऋक् और साम मन्त्रों का विकल्प ही होना चाहिए—दोनों में से चाहे जिस से स्तुति करें।'

इसपर सिद्धान्त पक्ष यह है कि 'यद्' शब्द लाने पर भी 'साम्ना स्तुवीत' वाक्य अनुवादक नहीं, किन्तु विधायक ही है। जैसे-'य एवं विद्वान् सोमेन यजेत' अर्थात् जो ऐसा समझकर सोमयज्ञ करे, यह वाक्य विधायक होता है। क्योंकि विधिशब्द 'यद्' शब्द को दबाकर विधान करता है। 'य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते' इस स्थल में तो लट् है, विधिबोधक लिङादि है ही नहीं; अतः वह 'यद्' से दुर्बल है। इसीलिए विधिकल्पना में 'यद्' शब्द बाधक ही होगा।

यही स्थिति 'यदृचा स्तुवते', 'यत्साम्ना स्तुवते' की है। इनमें 'यद्' शब्द के कारण 'ते' इस लट् से विधिकल्पना नहीं हो सकेगी। अतः दो विधायक होने से दो वाक्य हो जायँगे। इस कारण भी ये वाक्य विधायक नहीं हैं। "तस्मात् साम्ना स्तुवीत" यही वाक्य विधायक है। 'यदृचा स्तुवते' इस वाक्य का ऋक्-स्तुति की निन्दा में नहीं, सामस्तुति की प्रशंसा में ही तात्पर्य है। 'यत्साम्ना स्तुवते' इस वाक्य का तो प्रशंसा में तात्पर्य स्पष्ट ही है। अतः 'यदृचा यत्साम्ना स्तुवते' इन दोनों वाक्यों की एक-वाक्यता 'साम्ना स्तुवीत' इस विधायक वाक्य के साथ होती है। इसीसे सामस्तुति का ही यहाँ विधान है। यहाँ विकल्प भी सम्भव नहीं, क्योंकि एकवाक्यता के अनुसार साम का ही विधान है। 'ऋचा स्तुवते' आदि वाक्य विधायक न होकर अर्थवाद ही हैं।

कहा जाता है कि 'जिन वाक्यों में क्रियागत गुण एवं दोष

के वाचक शब्द ही नहीं होते, ऐसे 'आपो वै शान्ताः' इत्यादि वाक्यों का विधि या निषेध के साथ एकवाक्यता और प्रशंसादि अर्थ ही नहीं हो सकता। फिर उनकी सार्थकता कैसे होगी?' किन्तु इसका समाधान यह है कि 'वेतसशाखया-ऽवकाभिश्चाग्निं कर्षति' (बेंत की शाखा और अवकाओं या पनिहाँ वृक्षों से अग्नि को खींचकर एकत्र करें) इस विधि के समीप 'आपो वै शान्ताः' यह अर्थवाद है। अतः विधि के साथ एकवाक्यता के अनुसार 'जल शीतल है' इस तरह प्रथम जल की प्रशंसा से, फिर जल से उत्पन्न होने के कारण वेतस् और अवका की प्रशंसा में, उसके अनन्तर वेतस् और अवका से किये हुए अग्निकर्षण की प्रशंसा में तात्पर्य के अनुसार उक्त अर्थवाद की लक्षणा होती है।

'तुल्यञ्च साम्प्रदायिकम्'—इस सूत्र से भी अर्थवादों का प्रामाण्य कहा गया है। भावार्थ यह कि गुरुपरम्परा से प्राप्त और स्वाध्यायविधि के अनुसार अनध्याय में अनध्ययन का नियम आदि जैसे विधिवाक्यों में अनादिकाल से चला आता है, वैसे ही अर्थवाद-वाक्यों में भी। इसलिए जैसे विधि धर्म में प्रमाण है, वैसे ही अर्थवाद भी। यदि अर्थवाद अनर्थक होते, तो अध्ययन में विघ्न न होने के लिए अध्ययन-नियम-पालन व्यर्थ ही होता। किन्तु जब कि विधि जैसे ही अर्थवादों के अध्ययन में भी सब नियम अनादिकाल से माने जा रहे हैं, तब उन्हें अनर्थक कैसे कहा जा सकता है? अध्ययनविधि अनादि-काल से अध्ययन के सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन करती है।

बहुत पहले पूर्वपक्ष में 'स्तेनं मनः अनृतवादिनी वाक्' आदि अर्थ-वादों की शास्त्र और दृष्ट से विरुद्धता दिखलायी गयी है। किन्तु

इसका भी समाधान यही है कि उक्त वाक्य किसी अर्थ का विधान नहीं करते, क्योंकि द्वारभूत अक्षरार्थ में उनका मुख्य तात्पर्य नहीं है। तब तो उनसे किसी भी विधि की कल्पना नहीं हो सकती। अतएव चौर्य आदिका विधान और शास्त्रान्तर-विरोध का अवकाश नहीं है।

इसी तरह "गुणवादस्तु" इस सूत्र से "आपो वै शान्ताः शान्ताभिरेवास्य शुचं शमयति" इत्यादि अर्थवादों की सार्थकता कही गयी है। अर्थात् जैसे जन्मभूमि की प्रशंसा से पुरुष की प्रशंसा होती है, वैसे ही प्रकृत में भी प्रशंसा अभीष्ट है। "जल शान्त है और तदुत्पन्न वेतस एवं अवका भी शान्त हैं तथा उनसे आकृष्ट अग्नि भी शान्त है। अतएव यजमान के शोक को शान्त करता है" यह गौणी वृत्ति से उक्त अर्थवाद का तात्पर्य हुआ।

इसी प्रकार "सोऽरोदीत् यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम् तस्य यदश्रु व्यशीर्य्यत तद्रजतमभवत् योब र्हिषि रजतं दद्यात् पुरास्य संवत्सरात् गृहे रोदनं भवति" इस अर्थवाद में कहा गया है कि रुद्र रोये—यही उनका रुद्रत्व है; उनकी अश्रु से ही रजत बना; इसीलिए जो बर्हि में रजतदक्षिणा देता है, उसके घर में वर्ष के भीतर रोदन होता है। किन्तु अश्रु से रजत आदि की उत्पत्ति प्रत्यक्षादि से विरुद्ध है। इसका भी समाधान यही है कि जैसे स्तुति के लिए पुरुष को सिंह कहा जाता है, वैसे ही निन्दा के लिए गौणी वृत्ति से ये सब बातें कही जाती हैं।

इसी तरह 'प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत् तामजुहोत् ततस्तूपरः पशुरगात्' प्रजापति ने अपनी वपा अर्थात् चर्बी को निकाला, उसका होम किया फिर अग्नि से 'तूपर' (शृंगसहित अज) पशु निकला—यह अर्थवाद 'यः प्रजाकामः पशुकामो वा स्यात् स एतं

प्राजापत्यं तूपरमालभेत' (पशु-पुत्र की कामनावालों को प्रजापति से उत्पादित तूपर या 'हलुवान' पशु से यज्ञ करना चाहिए) इस विधि के साथ एकवाक्यतापन्न होता है। तथाच अर्थवाद का अभिप्राय यह निकलता है कि प्रयोजन-विशेष के लिए अपनी अपनी वपा (चर्बी) निकालकर भी यज्ञ किया जाता है, फिर बाह्य धनादि के व्यय तो गणना ही क्या है? जैसे कहा जाता है कि यह राजा अपनी आँखें निकाल कर दे सकता है, फिर अर्थ की तो कथा ही क्या है? प्रजापति ने वपा निकाली या नहीं, इससे कुछ भी प्रयोजन नहीं, विधि की स्तुति में ही उसका मुख्य तात्पर्य है।

इसी प्रकार "वनस्पतयः सत्रमासत" (वृक्षों ने यज्ञ किया) इससे भी सत्र की प्रशंसा ही है। जब जड़ भी यज्ञ करते हैं, तो चेतन मनुष्य को तो करना ही चाहिए। अक्षरार्थ मिथ्या होने पर भी अर्थवाद का मुख्य तात्पर्य अबाधित है ही। इसी तरह लोक में भी शिक्षाविशेष के लिए बहुत-सी आख्यायिकाएँ मिथ्या ही बना ली जाती हैं।

यहाँ सन्देह किया जाता है कि 'जैसे असत्यवादी अर्थवाद से भी यज्ञादि में प्रवृत्ति होती है, वैसे ही "स्वर्गकामो यजेत" यह विधिवाक्य भी तो प्रवृत्ति के ही लिए है। ऐसी स्थिति में यज्ञ से स्वर्ग का मिलना सत्य है, यह भी कैसे कहा जा सकता है?' किन्तु इसका समाधान यह है कि अर्थवाद का पूर्वोक्त रीति से स्वार्थ में तात्पर्य ही नहीं; किन्तु विधिस्तुति में ही उनका तात्पर्य है। अत प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरोध होने पर उनके अर्थ को गौण कहा जाता है। किन्तु विधि का तो तात्पर्य स्वार्थ में ही है और उसके किसी अंश का प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरोध भी

नहीं है। फिर तो उनके अर्थ को मिथ्या मानने का कुछ भी कारण नहीं रहता। लोक में कहा जाता है कि यह सत्य ही है, स्तुति या निन्दा नहीं है। इससे स्पष्ट है कि प्रवृत्ति के लिए मिथ्या गुण का और निवृत्ति के लिए मिथ्या दोष का भी वर्णन हो सकता है। जैसे 'बचा सेवन से बुद्धि-वृद्धि और शरीर-शोभा बढ़ती है इस आप्तवाक्य से शिष्यादि की शरीर-शोभा के लिए वचा-भक्षण में प्रवृत्ति होती है। भले ही यहाँ शरीर-शोभारूप फल का कहना मिथ्या हो, तथापि बुद्धिवृद्धिरूप फलका लाभ तो होता ही है। इसी तरह हितैषी के वाक्य अप्रमाण नहीं होते।

कहा जा सकता है कि 'शरीर-शोभारूप फल न प्राप्त होने से शिष्यों को आप्त गुरु आदि के प्रति विश्वास न होगा, जिससे उनकी प्रवृत्ति न होगी।' किन्तु यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि शिष्य जानते हैं कि आप्त गुरु आदि परमहितैषी हैं। उनकी यह उक्ति अतिशयोक्ति या मिथ्योक्ति हो, तो भी निष्फल नहीं— कुछ न कुछ इसका परम फल अवश्य होगा। ऐसे ही वृत्तों का यज्ञ न करना निश्चित होने पर भी आस्तिकों को विश्वास रहता है कि परमहितैषी अपौरुषेय वेद की यह अतिशयोक्ति मिथ्या होते हुए भी निष्फल नहीं है, इसका कोई न कोई महाप्रयोजन अवश्य होगा। यही समझकर आस्तिकों की प्रवृत्ति होती है कि उससे विधिबोधित परमफल प्राप्त हो जाता है।

प्रजापति का वपा निकालनेवाला व्याख्यान भी इसी तरह सार्थक होता है। कुछ लोग प्रजापति से 'वायु' और वपा का वृष्टि अर्थ करते हैं। एवञ्च वायु जलका विद्युत्रूप अग्नि में होम करता है। अथवा 'आकाश' और 'वायु' 'प्रजापति' और 'वपा

शब्द से गृहीत होते हैं। अतः आकाश वायु को जाठराग्नि में प्रवेश कराता है या सूर्य अपनी किरणों को अग्नि में होम करता है। ये सब इस अर्थवाद के सत्य ही अर्थ हैं। पूर्वोक्त होम से तूपर अजर अनादि बीज उत्पन्न होता है। बीज आदि की परम्परा अनादिसिद्ध होने से उनमें अजत्व का व्यवहार होता है। फिर भी उपर्युक्त-व्याख्यानों से स्तुति-अर्थ न निकलने से अर्थवादों की सार्थकता असिद्ध ही रहती है।

'गुणवादस्तु' इस सूत्र के व्याख्यान के प्रसंग में भट्टपादने कहा है कि 'मन्त्र, अर्थवाद, पुराण, इतिहासादि प्रमाणों से विश्व की सृष्टि और प्रलय इष्ट है सृष्टि के समय योगसद्ध प्रजापति पशुओं के अभाव में योगप्रभावसे अपने स्वाभाविक शरीर से अन्य एक पशुशरीर का निर्माण करके उसीके वपा से यज्ञ करता है। यज्ञ के मध्य की ही तूपर पशु यज्ञभूमि से आविर्भूत होता है। यह यज्ञ अतिशीघ्र फल देनेवाला है। इसके लिए प्रजापति ने कितना बड़ा उद्योग किया। इस रीति से उक्त अर्थवाद द्वारा यज्ञ की प्रशंसा होती है और द्वारभूत अर्थ भी सत्य सिद्ध हो जाता है। जैसे ऋतुओं का असंख्यों बार आवर्तन होता है, ऋतुओं के चिह्न पुष्प-फलादि प्रत्येक आवृत्ति में समान ही आविर्भूत होते है। (यद्यपि पुष्पफलादि की व्यक्तियाँ पृथक् पृथक् होती हैं, तथापि उनके रूप, गुण और प्रभाव समान ही होते हैं।) वैसे ही प्रत्येक विश्वसृष्टि के समय भिन्न-भिन्न प्रजापति उत्पन्न होने पर भी उनके प्रभाव और व्यापार समान ही होते हैं। यही स्थिति उत्पन्न होनेवाले अन्य पदार्थों की भी है, अतः प्रजापति के नाम से वेद में उक्त आर्थवादिक उपाख्यान होने पर भी वेद की अनादिता में कोई बाधा नहीं पड़ती। एक-एक प्रजापति व्यक्ति यद्यपि अनादि नहीं हैं,

तथापि प्रजापति का स्थान प्राड्विवाक (जज) आदि स्थानों के समान अनादि ही है। उसी स्थान के नाम से वेद का उपाख्यान भी अनादि है।

इसी तरह "आदित्यः प्रायणीश्चरुरादित्य उदयनीयश्चरुः" (यह आदित्य चरु सूर्य के उदय और अस्त समय के लिए है) इस विधिवाक्य का अर्थवाद है—'देवा वै देवयजनमध्यवसाय दिशो न प्रजानन्' (देवताओं को यज्ञ-समय में दिग्भ्रम हो गया है) यह अर्थवाद गुणवाद है, क्योंकि उक्त यज्ञ से इतने विलक्षण कर्म किये जाते हैं, जिनके करने और विचारने में, देवताओं की बुद्धि भ्रांत हो जाती है। इस यज्ञ का ऐसा प्रभाव है कि वह भ्रांति को दूर करता है। इस प्रकार स्तुति में ही उक्त अर्थवाद का तात्पर्य है, देवताओं के दिग्भ्रम होने में नहीं।

कई लोग समझते हैं कि पूर्वमीमांसक ईश्वर एवं विश्व की सृष्टि एवं संहार नहीं मानते। किन्तु ऐसी बात नहीं है। वस्तुतः जैमिनि ने अपने किसी सूत्र में ईश्वर का निषेध नहीं किया है। अवश्य ही औत्पत्तिक सूत्र में भट्टपाद ने ईश्वर की सत्ता का खण्डन किया है, किन्तु उसका भी तात्पर्य ईश्वरखण्डन में नहीं है। ईश्वर वेदकार है, इस प्रकार नैयायिकों के पक्ष का खण्डन ही उनका लक्ष्य था। वेदकर्तृत्वसम्बन्धिनी शंका का मूलोच्छेद करने के लिए ही ईश्वर की सत्ता का खण्डन है।

नैयायिक ईश्वरनिर्मित होने से वेदों का प्रामाण्य मानते हैं। अतएव वे ईश्वर की सत्ता में अन्योन्याश्रय दोष के भय से वेद को प्रमाणरूपमें उपस्थित नहीं करते, अनुमान प्रमाण उपस्थित करते हैं। किन्तु इस पक्ष में यह दोष है कि अनुमान द्वारा ईश्वर सामान्य ही सिद्ध होता है, वेदकार तो ईश्वरविशेष है।

जैसे धूम से बह्नि-सामान्य का अनुमान होता है, बह्नि-विशेष का नहीं। जिन जिन युक्तियों से नैयायिक वेदकार को ईश्वर सिद्ध करेंगे, उन्हीं-उन्हीं युक्तियों से दूसरे लोग 'बाइबिल'कार, 'कुरान'-कार को भी ईश्वर सिद्ध करने का प्रयत्न कर सकते हैं। फिर तो निरपेक्ष रूप से ईश्वररचित होने से वेदों का प्रामाण्य भी सिद्ध नहीं हो सकता। अतः ईश्वर के समान ही वेद अनादि अपौरुषेय हैं। यही सिद्धान्त ठीक है। ईश्वर भी वेद का रचयिता नहीं, किन्तु अनादि अपौरुषेय वेद के आधार पर धम एवं ईश्वर की सिद्धि होती है। यही भट्टपाद का अभिप्राय है।

अतएव 'मीमांसा-बालप्रकाश' में शंकर भट्ट का कहना है कि "पदपदार्थसम्बन्धस्येश्चरकृतसंकेतात्मकत्वेऽपि वेदाप्रामाण्या-पत्तेस्तत्प्रामाण्यायैवेश्वरनिरासः" अर्थात् पद-पदार्थसम्बन्ध ईश्वर-संकेतस्वरूप ही है, ऐसा मानने में संकेत द्वारा भी वेद में पौरु-षेयता एवं अप्रामाण्य की आपत्ति होगी, अतः मीमांसकों ने ईश्वरसत्ता का खण्डन किया है। वस्तुतः ईश्वर का अपलाप मीमांसकों को अभीष्ट नहीं है। इसीलिए श्लोकवार्तिककार ने आरम्भ में ही महेश्वर की वन्दनाकर मङ्गलाचरण किया है—

"विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदी दिव्यचक्षुषे।
श्रेयःप्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्धधारिणे॥"

'पार्थसारथि मिश्र' ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—

"...प्रारिप्सुस्तस्याविघ्नसमाप्तये विश्वेश्वरमहादेवं स्तुति पूर्वं नमस्यति।" सर्वोपाधि-विनिर्मुक्त, विशुद्ध ज्ञान जिसकी देह है, ऋग्वेदादि तीनों वेद जिसके तीनों नेत्र हैं, जो श्रेयःप्राप्ति के मूलकारण हैं, ऐसे शशिशेखर भगवान् महेश्वर को नमस्कार

है। यज्ञपक्ष में श्लोकार्थ यह है—'मीमांसा-परिशोधित ज्ञान जिसकी देह है, त्रिवेदी जिसका चक्षु अर्थात् प्रकाशन है, ऐसे सोम के अर्द्ध (स्थान) ग्रह चमसादि धारण करनेवाले यज्ञ भगवान् को नमस्कार है।'

वस्तुतः नास्तिकता-निराकरण ही वार्तिककार का मुख्य प्रयत्न था। अतएव उपक्रम का वार्तिक है—

"प्रायेनैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता।
तामास्तिकपथे कर्तुमयं यत्नो मया कृतः॥"

अर्थात् प्रायः मीमांसा को लोगों ने चार्वाकमतानुगामिनी बना दिया था। उसे आस्तिक पक्ष में लाने के लिए ही वार्तिक का निर्माण है।

सृष्टि और संहार मान लेने पर भी हिरण्यगर्भ पूर्वकल्प के तुल्य वेदसम्प्रदाय का केवल प्रवर्त्तन करता है, वेद का निर्माण नहीं। ऐसा मानने में अपौरुषेयता में कोई बाधा नहीं पड़ती। फिर भी सृष्टि के आदि में उत्पन्न एक हिरण्यगर्भ पूर्वकल्पीय वेदों का स्मरणकर सम्प्रदाय-प्रवर्तन करता है—इस विषय में भी उठनेवाली शंकाओं का समूलोन्मूलन करने के लिए ही सृष्टि-प्रलय के अस्वीकार की बात है। वस्तुतः वार्तिककार ने पूर्वोक्त रीति से सृष्टि-प्रलय स्वीकारकर प्रजापति के उपाख्यान को सत्य ही सिद्ध किया है—

"मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणप्रामाण्यात् सृष्टिप्रलयाविष्येते।"

अनध्याय में अध्ययन न करने के नियम आदि जैसे विधिभाग के हैं, वैसे ही अर्थवादों के भी हैं। अतः जैसे विधिभाग प्रमाण हैं, वैसे ही अर्थवाद भी प्रमाण हैं। अध्ययन में विघ्न न हों, यही

अनध्याय बचाने का फल है। यदि अर्थवाद व्यर्थ ही होते, तब तो उनके अध्ययन में विघ्न होना ही ठीक था। जब अनादिकाल से लोग अर्थवादों का भी अध्ययन करते चले आ रहे हैं, तब उन्हें व्यर्थ कैसे कहा जा सकता है? अर्थवाद का मुख्य तात्पर्य विधेय की प्रशंसा में ही है। फिर द्वारभूत वाच्यार्थ में विरोध होने पर भी कोई हानि नहीं, क्योंकि उसमें तात्पर्य ही नहीं है।

अतएव पक्षान्तर में उन अर्थवादों का पृथक् अर्थ बतलाया गया है। "स्तेनं मनः, अनृतवादिनी वाक्" इन अर्थवादों के अर्थों से कोई विरोध नहीं होता। मन चोर के समान ही है, क्योंकि दोनों प्रच्छन्न रूप से चलते हैं। अतएव वाक् को अनृतवादिनी कहा गया है। "हिरण्यं हस्ते भवति अथ गृह्णाति" (हिरण्य हाथ पर ले और पहने) सुवर्णकी इसी स्तुति के लिए मन और वचन का निन्दार्थवाद संगत होता है। जो कार्य किया जाता है, पहले उसीका मनसे संकल्प किया जाता है और तदनन्तरही वचनसे कथन होता है। अतः सभी कार्यों की सिद्धि में मन और वचन की अन्तरङ्ग-साधनता मानी जाती है। वह भी चोर और भूठा होने से निन्द्य है, तब फिर और की बात ही क्या? अतः स्वर्ण ही सर्वोत्तम है, क्योंकि वह सभी कार्यों की सिद्धि में अपेक्षित होता है और अनिन्द्य भी है। इस तरह "स्तेनं मनः" इत्यादि अर्थवादवाक्य स्वर्णधारण-विधि का स्तावक है। अतएव इससे चोरी आदि करने की विधि नहीं निकल सकती। "अनृतं न वदेत्" इत्यादि निषेध-वाक्यों के रहते हुए विधिस्तुति में चरितार्थ अर्थवाद-वाक्य से अनृतवदन आदिका विधान नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष विधि के विरुद्ध अर्थवादों से विधि-कामना सर्वथा अनर्गल है।

इसी तरह "धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे" इस अर्थवाद में जो प्रत्यक्ष विरोध दिखाया गया है, वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि उसका अभिप्राय यही है कि अधिक दूर होने से दिनमें धूम ही दिखाई देता है, अग्नि नहीं।

इसी तरह 'हम ब्राह्मण हैं या नहीं' यह अर्थवाद भी प्रत्यक्ष-विरुद्ध है'—इसका भी समाधान है कि "स्त्र्यपराधात् कर्त्तुश्च पुत्र-दर्शनम्।" इस सूत्रका अभिप्राय यह है कि "न चैतद्विद्मो ब्राह्मणो वयं स्म वा अब्राह्मणा वा" (यह हम नहीं जानते कि हम ब्राह्मण हैं या अब्राह्मण) यह अर्थवाद "प्रवरे प्रव्रियमाणे देवाः पितर इति ब्रूयात्" (जब यजमान यज्ञादि कर्मों में अपने गोत्र और प्रवरका वर्णन करने लगे, तब 'देवाः पितरः' इस शब्द को कहे) इसी विधि का स्तावक है। यद्यपि ब्राह्मणत्व ज्ञात है, तथापि उसका ज्ञान दुश्शक है। सरलता से जिसका ज्ञान न हो, उसके ज्ञान को अज्ञान ही कहा गया है। ब्राह्मणत्व का ज्ञान कठिन है, क्योंकि स्त्री के व्यभिचार-रूप दोष से संशय होता है। स्त्री-अपराध न होने पर भी संदेह होता है कि पुत्र माता का है या माता जिसका क्षेत्र है, उस क्षेत्री का है? यदि क्षेत्री का है, तब तो ब्राह्मण होने में कोई संदेह नहीं। किन्तु 'माता भस्त्रा पितुः पुत्रो यतो जातः स एव सः" माता केवल माथी है, जिसके वीर्य से उत्पन्न होता है, उसी का पुत्र समझना चाहिए और वह उपपति बीजी अत्यन्त प्रच्छन्न होता है। उसका परिज्ञान अत्यन्त कठिन है। इसीलिए वंश-

परम्पराकी रक्षामें बड़ी सावधानी की आवश्यकता बतलायी गयी है। इस तरह किसी भी ब्राह्मण के ब्राह्मणत्व का ज्ञान कठिन ही है; किन्तु उस ब्राह्मण की पूर्व-वंशपरम्परा के प्रवर-ऋषियों (जो कि निःसन्देह ब्राह्मण हैं) का नाम लेकर अनु-मन्त्रण करने से यजमान ब्राह्मणमें उक्त शंका नष्ट हो जाती है। इसीसे कहा जाता है कि "अब्राह्मणो ब्राह्मणो भवति प्रवरानु-मन्त्रणेन"। (प्रवरानुमन्त्रण से अब्राह्मण भी ब्राह्मण हो जाता है) यह भी प्रवरानुमन्त्रण की प्रशंसा ही है। वस्तुतः अब्राह्मण ब्राह्मण नहीं हो सकता।

इसी तरह गर्ग-त्रिरात्रवेदन में भी "शोभतेऽस्य मुखं" इत्यादि से प्रशंसा की गयी है। अर्थात् पद-वाक्य-प्रमाणों से ही विद्वानों के मुख की शोभा होती है। वर्ण-गठन, चमक आदि स्त्रियों के मुख की शोभा है। इसी तरह पूर्णाहुति से सब कामोंको प्राप्ति होती है, इसका भी यही अभिप्राय है कि पूर्णाहुति के बिना यज्ञ का फल ही नहीं होता। पूर्णाहुति होने से उस यज्ञ के सब फल प्राप्त होते हैं। जैसे 'सब ब्राह्मणों को खिलाओ' यहाँ सर्वपद निमन्त्रित ब्राह्मण-परक ही है, वैसे ही यहाँ भी सर्वपद तत्क्रतुसाध्य फल-परक ही है। सर्वथा स्तुति या निन्दा ही अर्थवादों का अर्थ है। इस तरह जब अक्षरार्थोंमें अर्थवादों का तात्पर्य ही नहीं, तब अक्षरार्थ के मिथ्या होने पर भी अर्थवादों के प्रामाण्य में कोई बाधा नहीं।

इसी तरह प्रहेलिका-वाक्यों के वाच्यार्थ मिथ्या होने पर भी उनका अप्रामाण्य नहीं होता, प्रत्युत पाण्डित्य ही सूचित होता है।

"पर्वताग्रे रथो याति भूमौ तिष्ठति सारथिः।
भ्रमंश्च वायुवेगेन पदमेकं न गच्छति ॥"

—कुलालचक्र।

"पञ्चभर्त्री न पाञ्चाली द्विजिह्वा न च सर्पिणी।
श्यामास्या न च मार्जारी यो जानाति स पण्डितः ॥"

—लेखनी।

इन प्रहेलिका-वाक्यों का प्रामाण्य ही है। शब्दशक्ति के अनुसार प्रहेलिकाओं का भी अर्थबोध होता ही है, उन मिथ्या अर्थबोधों से भी श्रोताओं के हृदय में चमत्कार होता ही है। उनके वाक्यार्थों को न समझने से बालक लोग उनपर आक्षेप भी करते हैं; किन्तु वाच्यार्थ के मिथ्या होने पर भी लक्ष्यार्थ सत्य होने पर ये पहेलियाँ प्रमाण ही मानी जाती हैं। इसी तरह वैदिक अर्थवाद का वाच्यार्थ मिथ्या होने पर भी निन्दा और स्तुतिरूप लक्ष्यार्थ सत्य ही है। 'वनस्पतयः सत्रमासत' इत्यादि अर्थवादों को देखकर कोई वेद को झूठा बतलाने लगता है। कोई-कोई उसके वाच्यार्थ की सत्यता का आग्रहकर आक्षेपकों को नास्तिक कहने लगते हैं। किन्तु इसमें अर्थवादों का दोष नहीं, 'परोक्षप्रिया हि देवाः' प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अगोचर अर्थ से ही

देवता प्रसन्न होते हैं। कोई अर्थवाद सत्य गुण-दोष द्वारा स्तुति-निन्दा करते हैं, कोई आरोपित गुण-दोष द्वारा। फिर भी निष्फल कर्मों या परिश्रम से न्यून फलवाले या अनिष्ट फलवाले कर्मों में कभी प्रवृत्त नहीं कराते और इष्ट फलवाले कर्म से कभी निवृत्त नहीं कराते। जैसे माता, पिता गुरुजन अपने पुत्र या शिष्य को किसी शुभकर्म में अधिक गुणवर्णन करके प्रवृत्त करायें और किसी निन्द्यकर्म में अधिक दोष-वर्णन करके भी उससे निवृत्त करायें, तो भी वे हितचिन्तक ही समझे जाते हैं, वञ्चक नहीं। यही स्थिति अर्थवादों की भी है।

उत्तरमीमांसकों को भी ये बातें मान्य हैं। उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि जहाँ एक वाक्य का दूसरे वाक्य से सम्बन्ध होता है, वहाँ लोकानुसार दोनों वाक्य पृथक्-पृथक् अपने-अपने पदों के अर्थों में परस्पर सम्बन्ध का बोध कराकर अपने-अपने वाक्यार्थ में समाप्त हो जाते हैं। पश्चात् किसी कारण से प्रयोजन की अपेक्षा होने पर उन वाक्यार्थों में परस्पर सम्बन्ध की कल्पना होती है। जैसे—"वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता, वायव्यं श्वेतमालभेत" इन दोनों वाक्यों में एकवाक्यता होती है। "स्वाध्यायोऽध्येतव्य" इस वाक्य से समस्त वेदराशि की पुरुषार्थ-साधकता सिद्ध है। ऐसी स्थिति में "वायुर्वै क्षेपिष्ठा" इत्यादि वाक्य केवल अपना वाच्यार्थबोध कराकर उपरत न होंगे, किन्तु लक्षणा-वृत्ति से वायु-यज्ञरूपी विधेय की प्रशंसा करके पुरुषार्थ के साधक होते हैं।

"गङ्गायां घोषः" इस स्थल में लक्षणा भी गङ्गासम्बन्धी तीर में ही होती है, समुद्र-तीर में नहीं। कारण शक्यसम्बन्धी में ही लक्षणा होती है। अतः यदि अर्थवादों का शक्यार्थ विवक्षित ही न हो, तो तत्सम्बन्धी में लक्षणा भी कैसे होगी? अतएव जो प्रमाणान्तर से विरुद्ध अर्थवाद हों, उन्हें केवल स्तुत्यर्थ मानना युक्त है। जैसे 'आदित्यो यूपः' यजमानः प्रस्तरः' (आदित्य के सदृश यूप है, कुशा की आंटी यजमान है) इत्यादि। जहां अर्थवाद से प्रमाणान्तरसिद्ध अर्थ निकलता है, वह अर्थवाद 'अनुवादक' समझा जाता है। यद्यपि प्रत्यक्ष, अनुमान के समान परस्परानपेक्ष दोनों ही स्वतन्त्र प्रमाण समझे जाते हैं, फिर भी साधारण लौकिक प्राणी को पहले प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ही अर्थज्ञान होता है, आम्नाय से पीछे ज्ञान होता है। अतः प्रत्यक्षादि सिद्ध अर्थ का प्रतिपादक अर्थवाद अनुवादक ही है। जैसे 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' (अग्नि जाड़े की औषध है)।

यहां सन्देह होता है कि 'जैसे अद्वैतबोधक वाक्यों का प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरोध होने पर प्रत्यक्षादि प्रमाणों का बाध हो जाता है, वैसे ही 'आदित्यो यूपः' इस अर्थवाद से आदित्य और यूप के भेदग्राहक प्रत्यक्ष का बाध हो सकता है, फिर ऐसा न कर अर्थवाद को गौणार्थक क्यों माना जाता है?' इसका समाधान यह है कि लोकानुभव के अनुसार शब्दों के अर्थ दो प्रकार से होते हैं—एक द्वार और दूसरा

द्वारी। पदों के पृथक्-पृथक् वाच्यार्थ द्वार होते हैं और वाक्यार्थ द्वारी होता है। उसीमें वक्ता का तात्पर्य होता है।

जहां दो वाक्यों की एकवाक्यता होती है, वहाँ भी एक वाक्यार्थ द्वार और दूसरा द्वारी होता है। जैसे—"इयं गौः क्रेतव्या" (यह गाय खरीदने लायक है) "बहुक्षीरा" (बहुत दूध देनेवाली है) यहाँ बहुक्षीरा प्रतिपादन द्वार है, क्रेतव्या द्वारी है; क्योंकि खरीदने में ही वक्ता का तात्पर्य है।

द्वाररूपी अर्थ का यदि प्रमाणान्तर से विरोध हो, तो उस वाक्य को ही दबाकर उसका गौण अर्थ किया जाता है। जैसे शत्रुगृह-भोजन-वारण प्रसंग में कहा जाता है—"विषं भुङ्क्ष्व" जहर खाओ। किन्तु यह लौकिक विवेक के विरुद्ध है। अतः 'शत्रुगृहे मा भुङ्क्ष्व' इस वाक्यार्थ में ही वक्ता का मुख्य तात्पर्य है। विषभक्षणरूप वाक्यार्थ केवल द्वार है, अतः उसका गौण अर्थ लेना चाहिए। अतएव उसका अर्थ होता है कि शत्रुगृह-भोजन विषभोजन के तुल्य है। जब द्वारी अर्थ प्रमाणान्तर से विरुद्ध होता है, तभी लौकिक वाक्य अप्रमाण होते हैं। इसी तरह 'आदित्यो यूपः' इत्यादि अर्थवादों का द्वार-अर्थ प्रमाणान्तर से विरुद्ध है, अतएव वह गुणवाद माना जाता है। किन्तु वेदान्त-वाक्य तो अपौरुषेय होने से स्वतःप्रमाण हैं। उपक्रमादि षट्-लिङ्गों से ब्रह्माद्वैत ही उनका द्वारी अर्थ है। अतः उनसे विरोध

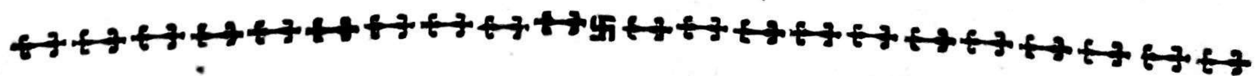
होने पर प्रत्यक्षादि को ही वास्तविक प्रमाण न मानकर व्यावहारिक दशा में उनका प्रामाण्य माना गया है।

जिन अर्थवादों के द्वाररूप अर्थ में प्रमाणान्तर का विरोध नहीं, उनके द्वारभूत अर्थ भी सत्य ही है। जैसे—"इंद्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्" (इन्द्र ने वृत्र के लिए वज्र उद्यत किया)। इस तरह भी इनकी अनादिता सिद्ध है।

इन प्रमाणों से वेदों की अपौरुषेयता सिद्ध हो जाने पर "वाचा विरूपनित्यया', 'अनादि-निधना नित्या', 'अत एव च नित्यत्वम्' इत्यादि श्रुति-स्मृति-सूत्रों से भी वेदों की नित्यता अनादि सिद्ध होती है। उत्पत्ति-प्रतिपादक वचनों का केवल आविर्भाव ही अर्थ है, यह सब विषय ऊपर कहा ही जा चुका है।

प्रथम भाग समाप्त





आर्यभूषण प्रेस, ब्रह्माघाट, वाराणसी में मुद्रित